भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321–5704
(वर्ष-6, अंक-6, फरवरी, 2019)

संरक्षक
कुलपति, प्रो. आर.पी. तिवारी

परामर्शदाता
कुलसचिव, कर्नल राकेश मोहन जोशी

सम्पादक मण्डल
प्रो. ए.एन. शर्मा
डॉ. पंकज तिवारी
डॉ. ऋतु यादव
डॉ. अरविन्द कुमार
डॉ. अनुराग श्रीवास्तव
श्री आर.के. पाल

सम्पादक
डॉ. छबिल कुमार मेहेर

सहायक सम्पादक
अभिषेक सक्सेना

राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर (मध्यप्रदेश)–470003
दूरभाष : (07582) 265828
ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

भाषा भारती

राजभाषा उन्नयन की वार्षिक पत्रिका

ISSN 2321 – 5704

वर्ष 6, अंक 6

फरवरी, 2019

यू.जी.सी. द्वारा मान्य पत्रिकाओं की सूची (Journal No.–40712) में सम्मिलित

© *सर्वाधिकार सुरक्षित*

सम्पादकीय पत्र व्यवहार :

हिन्दी अधिकारी, राजभाषा प्रकोष्ठ

डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय

सागर (म.प्र.)–470003

दूरभाष : (07582) 265828

ई-मेल : hindicell2015@gmail.com

मूल्य : निःशुल्क आन्तरिक वितरण हेतु

बाहरी व्यक्तियों के लिए 50 रुपये प्रति अंक

संस्थाओं के लिए 100 रुपये प्रति अंक

'भाषा भारती' में प्रकाशित रचनाकारों के विचार से

सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

शब्द संयोजन

विनोद रजक

मुद्रण

तेजस मोमेंटो एण्ड गिफ्ट हाऊस

सरस्वती वाचनालय, गौर मूर्ति, तीनबत्ती, सागर (म.प्र.)

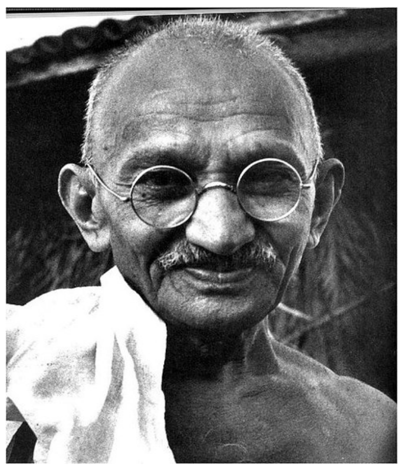

150
YEARS OF
CELEBRATING
THE MAHATMA

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी

के

150वीं जन्मशताब्दी वर्ष की शुभकामनाएँ

प्रो. आर.पी. तिवारी
कुलपति
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)–470003

संदेश

'भाषा भारती' के छठे अंक के प्रकाशन के अवसर पर आप सभी को हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ।

भारत विभिन्नताओं-विविधताओं से भरा देश है, यहाँ की बहुभाषिकता ही हमारी मूल पहचान है। सरकार को लोगों से जोड़ने के लिए सरकारी कार्य को ऐसी भाषा में करने की आवश्यकता है जो कि आम जन-मानस से जुड़ी हो। इस कसौटी पर भारत में सर्वाधिक प्रचलित भाषा 'हिन्दी' खरी उतरती है और इसीलिए हिन्दी को राजभाषा का गौरवमयी स्थान प्रदान किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि जनता की भाषा में सरकारी कामकाज करने से विकास की गति तेज होगी और प्रशासन में पारदर्शिता आएगी।

हिन्दी का महत्त्व केवल राजभाषा में नहीं, बल्कि जनभाषा के रूप में भी सर्वोपरी है। हमारा विश्वविद्यालय के अकादमिक क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग होने के नाते हम पूरी जिम्मेदारी एवं गंभीरता से राजभाषा-राष्ट्रभाषा-मातृभाषा के प्रचार-प्रसार हेतु प्रतिबद्ध हैं। इस दिशा में 'भाषा भारती' निःसंदेह एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है। आशा और विश्वास है कि आप 'भाषा भारती' को अपना सृजनात्मक सहयोग देकर राजभाषा के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने में हमारा साथ देंगे।

आप सभी को बधाई एवं शुभकामनाएँ!

रा०प्र० तिवारी
22/2/2019

फरवरी, 2019

(आचार्य राघवेन्द्र प्रसाद तिवारी)

कर्नल राकेश मोहन जोशी
कुलसचिव
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर

संदेश

'भाषा भारती' का छठा अंक आप सबके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे खुशी हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों को अपनी सृजनात्मकता एवं साहित्यिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है।

हमारा विश्वविद्यालय प्रेरणा, प्रोत्साहन और सदभावना पर आधारित सरकार की राजभाषा नीति के अनुसरण में राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु प्रतिबद्ध है। 'भाषा भारती' का प्रकाशन भी इसी कड़ी का एक हिस्सा है। तकनीकी विषयों में हिन्दी लेखन को प्रोत्साहित करने हेतु हम इस वर्ष से एक पुरस्कार योजना भी प्रारंभ करने जा रहे हैं।

विश्वास है कि हमारे विश्वविद्यालय के कामकाज में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को और अधिक बढ़ावा मिलेगा। हम सब पूरे मनोयोग से इस महत्त्वपूर्ण कार्य में अपनी सहभागिता सुनिश्चित करेंगे। आशा है कि 'भाषा भारती' का यह अंक भी आपको पसंद आयेगा।

'भाषा भारती' के प्रकाशन से जुड़ी पूरी टीम को बधाई और हार्दिक शुभकामनाएँ!

फरवरी, 2019

(कर्नल राकेश मोहन जोशी)

सम्पादकीय–

भाषा, संस्कृति और वैश्विक हिन्दी

'हमारा देश अपने प्राकृतिक वैभव में जितना समृद्ध है, अपनी आन्तरिक विभूतियों में उससे कम गुरु नहीं। उसकी मूलगत समानता, लक्ष्यगत एकता और इन दोनों को जोड़ने वाली प्रदेशगत विविधता की तुलना के लिए ऐसी नदी को खोजना होगा, जो एक हिमालय से निकल कर एक समुद्र में मिलने से पहले अनेक धाराओं में बिखर बँट कर प्रवाहित होती है। जैसे विभिन्न दूर पास के अंगों से रक्त का एक हृदय में आना और एक से पुनः अनेक में लौट जाना ही शरीर की संचालक शक्ति है, इसी प्रकार भारतीय संस्कृति बार-बार एक केन्द्र बिन्दु को छूकर दूर प्रसार की क्षमता पाती रही है। रूपात्मक प्रकृति के प्रति हमारी रागात्मक दृष्टि, जीवन के प्रति हमारी आस्था, समाज, देश और विश्व के विषय में हमारी नैतिक मान्यताएँ तत्त्वतः एक रही है।''

–महादेवी वर्मा

1

भाषा और देश की जातीय संस्कृति

भाषा केवल विचारों का माध्यम भर नहीं, वह हमारी स्वाधीन चेतना का प्रतीक भी है, इस अर्थ में भाषा हमारे समस्त अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा किसी भी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र की पहचान होती है। भाषा और संस्कृति का नाता अन्योन्याश्रित है। वास्तव में भाषा अपने आप में एक संस्कृति ही है, जिसके भीतर भावनाएँ, विचार और सदियों की जीवन-पद्धतियाँ समाहित हैं। भाषा ही परम्परा और संस्कृति से जुड़े रहने का एक मात्र साधन है। स्पष्ट है कि भाषा किसी देश की जातीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण उपादान है। एक अर्थ में संस्कृति की अधिरचना का आधार है भाषा। बकौल महादेवी वर्मा 'भाषा के साथ किसी जाति की संस्कृति भी अविच्छिन्न संबंध में बँधी रहती है, क्योंकि उसके अभाव में भाषा के विकास की आवश्यकता नहीं रहती।' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बहुत सावधानी से किसी देश के भाषाई और जातीय अन्तर्सम्बन्धों का विवेचन किया था– 'किसी देश के साहित्य का सम्बन्ध उस देश की सांस्कृतिक परम्परा से होता है, अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का

त्याग करके नहीं चल सकती।' भारतीय संस्कृति की अनूठी विशेषता के रूप में उद्घोषित 'विविधता में एकता' के समर्थक तत्त्वों में भारतीय भाषाओं में अंतर्लीन एकता का अहम् स्थान है। इन भाषाओं के बीच हिन्दी की अलग पहचान है क्योंकि यह हमारी संस्कृति और परम्पराओं की संवाहिका भी है। हिन्दी की व्यापक स्वीकृति, उसकी रचनाशीलता, मिश्रणशीलता और विकास को देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी और हिन्दुस्तान आज पर्यायवाची बन चुके हैं, हिन्दी से आप हिन्दुस्तान का अर्थ लगा सकते हैं और हिन्दुस्तान कहकर आप हिन्दी को समझ और समझा सकते हैं। कमल किशोर गोयनका जी के शब्दों में कहें तो 'भारतीय संदर्भ में हिन्दी केवल एक भाषाई समुदाय विशेष की सीमित चेतना नहीं है, वह इस देश का सामूहिक मनस्क (कलेक्टिव माइंड) है। इस 'कलेक्टिव माइंड' की एक 'कलेक्टिव स्मृति' है जो उसका व्यवहार करने वालों के वर्तमान यथार्थ और भविष्य की दिशाओं का रूप-निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में, हिन्दी इस देश के राष्ट्रीय व्यक्तित्व की 'सामूहिक मेधा' का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा है जिसमें दीर्घकाल से इस देश का साहित्य-कर्म, कलाएँ, विभिन्न संस्कृतियाँ, धर्म, दर्शन, मत-मतान्तर अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। इसी सामूहिक मति श्रेष्ठता से हमारा जातीय अतीत और उसका चरित्र निर्मित है जिसके सहारे सफर करते हुए हम धीरे-धीरे वर्तमान के दरवाजे तक चले आते हैं।' बकौल डॉ. आबिद हुसैन भारत का हजारों वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास दर्शाता है कि एकता का सूक्ष्म किन्तु मजबूत धागा, जो उसके जीवन के कारण नहीं बुना गया बल्कि भविष्य द्रष्टाओं की दृष्टि, संतों की चेतना, दार्शनिकों के चिन्तन और कवि कलाकारों की कल्पना का परिणाम है, और केवल ये माध्यम हैं, जिनका राष्ट्रीय एकता को व्यापक, मजबूत तथा स्थायी बनाने में उपयोग किया जा सकता है। गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने यह बात बहुत गहरे आत्ममंथन के साथ कही थी कि 'भारतीय संस्कृति मानवता की परमार्थिक विकास-साधना की धारा है।' वेद-उपनिषद, वाल्मीकि, कालिदास-तुलसीदास, नानक-कबीर, बुद्ध-महावीर, नागार्जुन-शंकर, टैगोर-गाँधी, रामकृष्ण-विवेकानन्द, दयानन्द और अरविन्द इत्यादि में भारतीय संस्कृति का जो अवनिश्वर रूप सुरक्षित है वह युगों-युगों तक भारतीयों के साथ-साथ विश्व के दूसरे देशों का मार्ग दर्शन करता रहेगा; उन्हें सद्कर्म की ओर प्रेरित करता रहेगा।

2

हिन्दी और राष्ट्रीय अस्मिता

भूमण्डलीकरण के इस दौर में आधुनिक मानव अपने सामाजिक जीवन को नितान्त भौतिक समृद्धि के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करने का आग्रही है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जीवन के वे आयाम, जिनकी सिर्फ भौतिक सन्दर्भ में व्याख्या एक सीमा तक सम्भव नहीं है,

लेकिन जो भौतिक उपलब्धि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, हमारे चिन्तन की परिधि से ही बाहर चले गये। ध्यान दिलाने की जरूरत नहीं कि भाषा राष्ट्रीय अस्मिता के अनलेक आधारों में से एक है। एक लम्बे समय से हम भारत की भाषा समस्या, राजभाषा के रूप में हिन्दी की राजनीतिक स्थिति, राष्ट्रभाषा के रूप में उसकी सामाजिक अवस्थिति के बारे में गंभीर चिन्तन -मनन करते आ रहे हैं। दूसरे शब्दों में, वे हिन्दी के सामाजिक व्यवहार व साहित्यिक सरोकार से गहरे रूप से जुड़ कर भाषा की राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सरोकार को समझने-समझाने की पुरजोर सार्थक कोशिश करते आ रहे हैं।

भारत की बहुभाषिकता ही इस देश की शक्ति है; ये भाषाएँ भारतीय संस्कृति की संवाहिकाएँ हैं। दूसरे शब्दों में यहाँ की भाषाओं में अभिव्यक्त क्षेत्रीय संस्कृतियों का संगुफन ही तो भारतीय संस्कृति में परिलक्षित होता है। हिन्दी और भारतीय भाषाओं में आपसदारी राष्ट्रीय एकता के लिए, राष्ट्र की अखंडता के लिए आवश्यक है। परन्तु जहां तक हिन्दी की बात है, हम भारतीयों के लिए हिन्दी अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का प्रतीक है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने ठीक ही कहा है–'आधुनिक भारत की संस्कृति एक विकसित शतदल कमल के समान है जिसका एक-एक दल प्रान्तीय भाषा और उसकी साहित्य-संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शाभा नष्ट हो जाएगी। हम चाहते हैं कि भारत की सब प्रान्तीय बोलियाँ जिनमें सुन्दर साहित्य की सृष्टि हुई है, अपने-अपने घर में रानी बन कर रहें। प्रान्त के जनगण की हार्दिक चिन्ता की प्रकाश-भूमि स्वरूप कविता की भाषा होकर रहें और आधुनिक भाषाओं के हार की मध्य-मणि हिन्दी भारत-भारती होकर विराजती रहे।' राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, सुभाषचन्द्र बोस जैसे मनीषी भी हिन्दी के समर्थक थे। परन्तु राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को समस्त देश में फैलाने का श्रेय महात्मा गाँधी को जाता है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि किसी भी देश की राष्ट्रभाषा वही भाषा हो सकती है जो वहाँ की अधिकांश जनता बोलती हो। वह सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में माध्यम भाषा बनने की शक्ति रखती हो। वह सरकारी कर्मचारियों एवं सरकारी कामकाज के लिए सुगम तथा सरल हो। जिसे सुगमता और सहजता से सीखा जा सकता हो।... बहुभाषी भारत में केवल हिन्दी ही एक भाषा है जिसमें ये सभी गुण पाए जाते हैं। गांधीजी के स्वप्न के अनुसार उपनिवेशवादी बड़ी भाषाओं की तुलना में हिन्दी को एक राष्ट्रव्यापी एवं विश्वव्यापी विकल्प के रूप में लाने की आवश्यकता है, साथ ही हिन्दी को सूचना प्रौद्योगिकी तथा अन्य नये तकनीकी विषयों से जोड़ना होगा।

3

विश्व में हिन्दी और भारतीय साहित्य-संस्कृति की उपस्थिति

विश्व में भारतीय भाषाओं का महत्त्व बहुत पहले स्वीकारा जा चुका है। जर्मन के विद्वान मैक्समूलर ने भारत आकर संस्कृत सीखी और वेदों का जर्मनी भाषा में अनुवाद किया, जिससे सारे विश्व में हमारे वाङ्मय की गुणवत्ता प्रमाणित हुई। चीन के यात्री तथा बौद्ध भिक्षुओं ने पाली भाषा में सभी त्रिपिटक एवं जातक कथाओं का अनुवाद चीनी भाषा में किया। संस्कृत में विरचित महाभारत, रामायण आदि महाकाव्यों के साथ पंचतंत्र हितोपदेश तथा कालिदास आदि महाकवियों की कृतियों के साथ हमारे ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अनेक ग्रंथ विश्व की प्रमुख भाषाओं में रूपांतरित हुए। परिणाम स्वरूप आज विश्व के सम्पन्न देश भी हमारी राष्ट्रभाषा-राजभाषा हिन्दी के अध्ययन, अध्यापन की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं। इसलिए हिन्दी आज विश्व में बोली जाने वाली तीसरी बड़ी भाषा है और 22 देशों में 80 करोड़ लोग इस भाषा का प्रयोग करते हैं। साथ ही विदेशों में 240 विश्वविद्यालयों में हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था है। बोलचाल की भाषा के रूप में एशिया, अफ्रिका, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया में हिन्दी लोकप्रिय हो रही है। संयुक्त राष्ट्र में भारत की अस्मिता की भाषा हिन्दी को सातवीं भाषा के रूप में स्वीकृति दिलाने के लिए आज विश्व में जैसा अनुकूल वातावरण निर्मित हुआ है, वह अप्रतिम है। संघ की राजभाषा के रूप में हिन्दी को देश और विदेश में प्रचारित करने के लिए भारत सरकार सतत् प्रयत्नशील है। जनसंचार और फिल्म आदि क्षेत्र में लोकप्रिय माध्यम बन जाने के कारण हिन्दी की लोकप्रियता पूरे विश्व में बढ़ रही है। हिन्दी विश्व की सबसे बड़ी 5 भाषाओं में से चीनी-मंदारीन के बाद सर्वाधिक लिखी, बोली, पढ़ी और समझी जाने वाली भाषा है। यह भाषा भारत की 130 करोड़ आबादी के 70 प्रतिशत लोगों की जीवित भाषा है। गत पाँच सौ वर्षों से इसके साहित्य ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए जो यात्रा की है वह हमारे समय के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वतंत्रता के पश्चात् जिस गति से हिन्दी भाषा ने अपने शब्दकोश और अपने साहित्य का विपुल सृजन किया है वह विश्व की अनेक भाषाओं की तुलना में बहुत महत्त्वपूर्ण है। विश्व में ऐसी कोई भाषा नहीं है जिसने हिन्दी की तरह केवल 70 वर्ष की आजादी में अपने महत्व की इतनी बड़ी स्थापना की हो। हम जानते हैं कि अंग्रेजी, फ्रेंच, स्पेनिश, रशियन, चाइनीज, अरबी और जर्मन भाषाओं का भी एक बड़ा यूरा-अमरीकी, लातीनी-अमरीकी और एशियाई भाषाओं का भी एक बड़ा समुदाय है। बावजूद इसके हिन्दी भाषा ने जो स्थान बनाया है उसे सम्पूर्ण विश्व के समक्ष प्रस्तुत करना आवश्यक है। उससे भी बढ़कर इस क्षेत्र में काम करने वाले हिन्दी के विद्वानों और हिन्दी के हितैषियों का कर्तव्य बनता है कि विश्वभाषा के रूप में हिन्दी के विकास एवं उसकी समस्याओं पर चिन्तन करें और कुछ व्यावहारिक कदम उठाएँ।

ऐसे में यह जान लेना जरूरी है कि विश्व मे प्रमुख देशों में हिन्दी की क्या स्थिति है।

विश्वभर में हिन्दुस्तान एक ऐशा देश है जहाँ से काफी तादाद में हर वर्ग के लोग दूसरे देशों में प्रवास करते हैं। हिन्दुस्तानियों ने जिन भी देशों में भी प्रवास किया वहाँ अपनी भारतीय संस्कृति व धार्मिक प्रथाओं को सहेजने की भरसक कोशिश की। विश्व का अगर एक छोटा सा क्षेत्र स्कंडिनेवियन देशों की बात करें तो वहां हिन्दी समितियाँ, हिन्दी सांस्कृतिक व धार्मिक संस्थाएँ हैं। डेनमार्क में नाना प्रकार की भारतीय संस्थाएँ हैं जो भारतीय त्योहारों व राष्ट्रीय दिवसों पर कार्यक्रम आयोजित कर विदेशों में बसे भारतीयों को अपनी जड़ों से जोड़े रखती है और भारतीय संस्कृति को सहेजे हुए है।

मॉरीशस में हिन्दी के जितने पक्षधर हैं उतने शायद किसी देश में नहीं हैं। कथाकार श्री रामदेव धुरंधर के शब्दों में मॉरीशस ने इतिहास को हिन्दी में जिया है। हिन्दी में ही स्वतंत्रता तक की यात्रा तय की है। स्वतंत्रता के बाद अस्मिता की खोज में, यहाँ के हिन्दी भाषियों और राजनयिकों ने, हिन्दी का ही सहारा लिया है। इस लम्बी दौड़ में हिन्दी को कहीं नकारा नहीं गया है और यह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी विजय है। रीति-रिवाज, धर्म, रहन-सहन, संस्कृति सब भारतवासियों के समान है। सामाजिक, सरकारी पाठशाला में छात्रगण अधिक संख्या में हिन्दी के प्रति अभिरुचि ले रहे हैं। सरकार द्वारा अच्छे वेतन पर अध्यापकों की नियुक्ति होने से अब हिन्दी भाषा न केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक ज्ञानवृद्धि का साधन रह गयी है बल्कि इससे युवक-युवतियों की जीवनवृत्ति का भी द्वार खुल गया है।

आज फिजी में हिन्दी भाषा-भाषी संख्या में सबसे अधिक हैं, इसलिए हिन्दी भाषा सभी भारतीयों के बीच अभिव्यक्ति का माध्यम स्वतः बन गई। फलस्वरूप अन्य भारतीय भाषाओं ने हिन्दी को अपनी शब्दावली से समृद्ध किया। साथ ही वहाँ की कोई बीती भाषा के शब्द भी उसमें स्वतः शामिल हो गए हैं। फिजी में बसे भारतीयों की आपसी व्यवहार की तथा बोलचाल की हिन्दी अलग है। औपचारिक अवसरों पर वे परिनिष्ठित हिन्दी का प्रयोग करते हैं।

जापान में हिन्दी के मुख्य आयाम शिक्षण, शोध, अनुवाद, खान-पान, सिनेमा और संस्कृति के क्षेत्रों में पहचाने जा सकते हैं। यहाँ के दो विश्वविद्यालयों में हिन्दी की विधिवत पढ़ाई हो रही है। साथ ही बहुत सी सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों के माध्यम से हिन्दी पठन-पाठन को प्रोत्साहन मिल रहा है। परिणाम स्वरूप आज जापानी भाषा में हिन्दी की अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियों (कफन, तीसरी कसम, तमस आदि) का अनुवाद हो चुका है।

भारतीय भाषाओं तथा ज्ञान में हंगेरियनवासियों की रुचि सैकड़ों साल पुरानी है। उनका हिन्दी प्रेम अप्रतिम है। भारतीय क्लासिकी साहित्य का अनुवाद पिछली कई शताब्दियों से किया जा रहा है। हंगेरियन भारतविद् अंतरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान रहे हैं। दरअसल हंगेरियन लोगों

के लिए भाषा तो भारत तक पहुँचने का एक माध्यम है, वे वास्तव में भारतीय इतिहास, समाज और प्राचीन संस्कृति में इतनी गहरी रुचि रखते हैं कि सैकड़ों खतरे और कठिनाइयाँ उठाकर भी भारतीयता की खोज करते रहे हैं।

चीन में हिन्दी का परिदृश्य पर्याप्त संतोषजनक है। पेइचिङ विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग विश्व के प्रतिष्ठित हिन्दी विभागों में से एक है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यहाँ पर संसार के कई देशों के विद्यार्थी हिन्दी पढ़ने आते रहे हैं। यद्यपित चीन में हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था सन् 1942 में ही हो गई थी किन्तु अनुवाद कार्य का श्रीगणेश नये चीन की स्थापना अर्थात् सन् 1949 के बाद ही हुआ। इस सन्दर्भ में यह ध्यातव्य है कि प्रो. यिन होंग युएन ने चीन भाषा में हिन्दी का पहला व्याकरण ग्रंथ लिखने, प्रो. ल्यू आन ऊ ने प्रेमचंद साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद करने और आलोचनात्मक लेख एवं पुस्तकें लिखने तथा प्रो. जिन दिंग हान ने गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृति 'रामचरितमानस' का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा हिन्दी चीनी मुहावरा कोश तैयार करने के लिए विशेष ख्याति अर्जित की है।

चीन में हिन्दी प्रसारण की भी व्यवस्था है। सी.आर.आई. के हिन्दी विभाग की ओर से प्रतिदिन हिन्दी कार्यक्रमों का प्रसारण होता है। सम्प्रति पूरे चीन में हिन्दी भाषा में काम करने वाले सर्वाधिक व्यक्ति अन्तरराष्ट्रीय रेडियो के हिन्दी विभाग में ही हैं। नये चीन की स्थापना के बाद से चीन में हिन्दी-फिल्में भी दिखाई जाती है। इतना ही नहीं चीन के पुस्तक बाजारों में हिन्दी की पुस्तकें भी मिलती हैं।

भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् भारत-रूस मैत्री की प्रगाढ़ता विश्व प्रसिद्ध रही है। विश्वविद्यालय और सांस्थानिक स्तर पर भी रूस में हिन्दी सीखने के लिए नियमित पाठ्यक्रम (डिप्लोमा व शोध) की व्यवस्था है। हिन्दी शिक्षण के क्षेत्र में भारतीय राजदूतावास भी पिछले एक दशक से महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहा है। पिछले लगभग आधे दशक से रूस में हिन्दी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य हुए हैं। यहाँ के रादुगा प्रकाशन ने मार्क्स, लेनिन, दोस्तोवस्की, तोल्सतोय, चेखव, पूश्किन आदि कालजयी रचनाकारों की कृतियों का हिन्दी अनुवाद कर उल्लेखनीय कार्य किया। हिन्दी भाषा सीखने के इच्छुक विद्यार्थी हर साल केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा में विद्यार्थीवृत्ति पर आते हैं। अनेक विद्यार्थी अपने खर्चे से भी हिन्दी सीखने के लिए भारत जाते हैं। इन लोगों में भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम दिखाई देता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है रूस में हिन्दी के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हुआ है।

बेल्जियम में भारत, भारतीय संस्कृति एवं भारत विद्या के प्रति बड़ा अनुराग है। बेल्जियम के स्टेट गेंट विश्वविद्यालय के इंडोलॉजी विभाग में अन्य विषयों के साथ प्राकृत,

संस्कृत, हिन्दी भाषा तथा साहित्य भी एक विषय है। साहित्य में जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, सुदर्शन, प्रेमचन्द, यशपाल आदि पढ़ाए जाते हैं। बेल्जियम के विद्वानों और विद्यार्थियों का विचार है कि जो भारत को समझना चाहता है, जो भारतीय संस्कृति का वास्तविक परिचय पाना चाहता है, उसको जरूरी है कि वह कम-से-कम संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी का अध्ययन-अनुशीलन करे।

सूरीनाम के भारतवंशी लोगों ने व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से देश भर में हिन्दी शिक्षण के कई केन्द्र स्थापित किए हैं और पिछले कई वर्षों से इन केन्द्रों में हिन्दी अध्यापन का कार्य किया जा रहा है। श्री सनातन धर्म सभा की ओर से संचालित सौ से अधिक स्कूलों में एक विषय के रूप में हिन्दी तथा धर्म की पढ़ाई होती है। फिल्म, रेडियो, दूरदर्शन, नाटक, कवि-गोष्ठियों, पत्र-पत्रिकाओं और धर्म-प्रचार सभाओं द्वारा यहाँ हिन्दी का व्यापक प्रचार हो रहा है।

भारत सरकार की विदेशों में हिन्दी प्रचार तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान योजना के अन्तर्गत भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के तत्वावधान में अगस्त 1979 में पहली बार क्यूबा में हिन्दी का अध्ययन शुरू हुआ। इस कार्य के लिए हवाना विश्वविद्यालय, क्यूबा में केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा के रीडर और सम्मानित लेखकों को नियुक्त किया गया। क्यूबा में हिन्दी का अध्ययन विश्वविद्यालयीन चतुर्वर्षीय स्नातक पाठ्यक्रम के रूप में प्रारम्भ हुआ।

नेपाल न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से, वरन् भाषा और साहित्य की दृष्टि से भी भारत से बहुत प्रभावित रहा है। हिन्दी एवं नेपाली भाषी क्षेत्र एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। वहाँ नेपाली के बाद सर्वाधिक बोली-समझी जाने वाली भाषा हिन्दी है। नेपाली भाषा की लिपि देवनागरी है और इसका प्रादुर्भाव शौरसेनी प्राकृत से हुआ है, अतः इस भाषा के शब्द भंडार और हिन्दी के शब्द भंडार में बहुत साम्यता है। भारत और नेपाल की भौगोलिक-सांस्कृतिक एकता ने दोनों देशों के निकट सामाजिक-आर्थिक संबंध में अपना ठोस रूप पा लिया है। इस घनिष्ठ संबंध ने दोनों देशों को भाषा की दृष्टि से भी काफी प्रभावित किया है।

श्रीलंका हमारा पड़ोसी देश है और वहाँ से प्रसारित रेडियो सिलोन के हिन्दी कार्यक्रमों से हम सब भलीभाँति परिचित हैं। अमेरिका के अनेक प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। इस क्रम में हांगकांग, चेकोस्लोवाकिया आदि अन्य देशों में भी हिन्दी की मजबूत स्थिति को रेखांकित किया जा सकता है।

प्रवासी भारतीयों और भारतवंशियों के लिए हिन्दी उनकी अपनी सांस्कृतिक भाषा है। विदेशों में हिन्दी चाहे कामकाज और कार्यालय की कमाऊ भाषा भले ही न हो लेकिन वह रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, खान-पान, तीज-त्योहार, रहन-सहन और जीवन की भाषा है। वह

जीवनदायी हृदय की भाषा है। विश्व में इतनी बड़ी तादाद में हिन्दी बोलने वाले होने के बावजूद हिन्दी भाषा सीखना एक उतना बड़ा व्यापार नहीं है, जितना कि चायनीज, रशियन व अरबियन आदि भाषाओं को सीखना। आजादी के बाद भारत के सांस्कृतिक सम्बन्धों को अन्य देशों के साथ प्रगाढ़ करने की दिशा में निश्चय ही हिन्दी की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। यह हर्ष का विषय है कि भारत सरकार की ओर से समय-समय पर कई सांस्कृतिक कार्य किए गए और किए जा रहे हैं और इसमें भाषा की भूमिका का निर्वाह हिन्दी ही करती है और उसकी यह भूमिका अन्तरराष्ट्रीय स्तर की है।

विश्व हिन्दी सम्मेलन 'हिन्दी विश्व' की रचना का सम्मेलन है। विश्व हिन्दी सम्मेलन एक ऐसा मंच है जहाँ हिन्दी एक बड़ी महत्त्वपूर्ण और राष्ट्रीय भाषा के रूप में अपनी पहचान बना सकती है। इसलिए विश्व में हिन्दी की स्थानीयता सिद्ध करने का यह ऐसा उत्सव है जो हिन्दी के गर्व का प्रतीक है। भारत की राष्ट्रीय अस्मिता और भूमंडलीकरण की भीड़ में अपनी अक्षुण्ण पहचान को बनाये रखने के लिए हिन्दी को अपने सद्प्रयासों से राष्ट्रभाषा का स्थान दिलाना ही होगा, जिसकी कि वह हर दृष्टि से अधिकारिणी है। यह सद्प्रयास भारत के प्रत्येक नागरिक को सद्इच्छा से अपने-अपने स्तर से करना होगा। इसी में हिन्दी और जगत् का कल्याण निहित है :

भद्रं इच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः
तपो दीक्षां उपसेदुः अग्ने।
ततो राष्ट्रं बलं ओजश्च जातम्
तदस्मै देवा उपसं नमन्तु।। (—अथर्व, 19/41/1)

4

'भाषा भारती' के पहले पाँच अंकों को आप सभी का जो प्यार और दुलार मिला वह हमारे लिए गौरव का विषय रहा। आशा करता हूँ कि यह अंक भी आप लोगों की कसौटी पर खरा उतरेगा। पहले की भाँति यह अंक भी हमारे सम्माननीय शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों में हिन्दी-प्रेम का जादू बिखरेन में सक्षम होगा। इसी उम्मीद के साथ 'भाषा भारती' के छठे अंक को आप तक पहुँचाते हुए मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

'भाषा भारती' को यथाशीघ्र प्रकाशित एवं प्रसारित करवाने की दिशा में निरन्तर प्रोत्साहित एवं प्रेरित करने वाले विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति प्रो. आर.पी. तिवारी जी एवं कुलसचिव कर्नल राकेश मोहन जोशी जी को पत्रिका प्रकाशन के शुभअवसर पर मैं ससम्मान याद कर रहा हूँ। दोनों महानुभवों की सदाशयता एवं सहृदयता के प्रति 'भाषा भारती' परिवार अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। 'भाषा भारती' पर विश्वास कर अपने महत्त्वपूर्ण सृजन को

इसमें शामिल करने की अनुमति देने वाले सभी विद्वज्जनों के प्रति भी हृदय से आभार। सम्पादक मंडल के सदस्यगण, विश्वविद्यालय के शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों से जो भरपूर प्यार एवं सहयोग मिला उसके लिए तहेदिल से शुक्रिया। पत्रिका से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी विद्वज्जनों के प्रति हम सब कृतज्ञ हैं। विश्वास है कि आगे भी उनका सहयोग हमें यूँ ही मिलता रहेगा। आप लोगों की बेबाक टिप्पणी, निष्पक्ष प्रतिक्रिया एवं महत्त्वपूर्ण सुझावों का इंतजार रहेगा। इत्यलम्।

वसंत पंचमी 2019

—छबिल कुमार मेहेर
सी-100, विश्वविद्यालय परिसर
डॉक्टर हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय
सागर, मध्यप्रदेश, पिन-470003

अनुक्रमणिका

कुलपति का संदेश

कुलसचिव का संदेश

सम्पादकीय : भाषा, संस्कृति और वैश्विक हिन्दी

समसामयिक चिन्तन

भारतीयता के प्रश्न 21
विजय बहादुर सिंह

शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य 29
यशदेव शल्य

आधुनिकता का संस्कार : विश्व-चेतस् हिन्दी और हम 35
रमेशचन्द्र शाह

संस्मरण

नागपुर में मुक्तिबोध 42
कान्तिकुमार जैन

व्याख्यान

हिन्दी की समस्याएँ 49
नगेन्द्र

अनुवाद चिन्तन एवं सृजन

अनुवाद और संस्कृति 59
सूर्यनारायण रणसुभे

मीडिया अनुवाद का पक्ष 71
विवेक कुमार जायसवाल

स्वाधीनता 77
जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, अनुवाद—अभिषेक सक्सेना

कहानी

चाँदी के पैजने 85
दिनेश अत्रि

आसाढ़ की एक रात 87
आशुतोष

कविता एवं ग़ज़ल

कलंक नहीं ढोएगी सीता 99
राजी सेठ

बस कुछ दिनों की बात है 106
कमल कांत

चार कविताएँ 107
रामहेत गौतम

गमले का पौधा 109
अभिषेक जैन

मंजिल 110
महेन्द्र कुमार

तीन कविताएँ 111
प्रकाश जैन

ग़ज़ल 113
नवीन कानगो

ग़ज़ल 115
अकबर सागरी

ग़ज़ल 116
सेराज खान बातिश

आलेख

समय की रेखा पर बदलती नारी — 117
ऋतु यादव

संविधान की उद्देशिका और कवि धूमिल — 123
अफरोज बेगम

समतामूलक समाज और आम्बेडकर के विचार — 130
नंदी पटोदिया, दिवाकर शर्मा

समीक्षा

'चीख' : व्यापक जीवनानुभव की सृजनात्मक अभिव्यक्ति — 137
अमरेन्द्र त्रिपाठी

बुन्देले रणबाँकुरों के स्वातंत्र्य समर की गौरवशाली दास्तान — 144
पंकज सिंह

प्रकृति, मनुष्य और विज्ञान का औदात्य — 151
हिमांशु कुमार

रिपोर्ट

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम — 158
विनोद रजक

●●●

भारतीयता के प्रश्न

–विजय बहादुर सिंह

1909 में गाँधी ने एक महत्त्वपूर्ण कथन अपना गुजराती में लिखी पुस्तिका 'हिन्द स्वराज' में किया था कि अंग्रेज भी चाहें तो वे यहाँ रह सकते हैं, शर्त केवल एक है कि उन्हें अपनी अंग्रेजियत छोड़नी होगी। इसी पुस्तिका में उन्होंने यह भी कहा कि पाश्चात्य सभ्यता अन्यों की लूट-खसोट और शोषण पर टिकी होने के कारण राक्षसी है। कुछ लोगों ने इसका अनुवाद शैतानी कहकर भी किया है। इसका अर्थ यही कि अपने शोषक और दमनकारी चरित्र के कारण पश्चिम की सभ्यता मानव विरोधी है। अतः भारत जैसे मुल्कों में इसका स्वागत और समर्थन नहीं किया जा सकता।

इस सन्दर्भ की व्याख्या में जाएँ तो बहुत सारे अर्थ निकलेंगे। खुद राक्षस और शैतान शब्द भारत की अपनी संस्कृति के लिए नए नहीं हैं। लेकिन आधुनिक भारत के सन्दर्भ में जब हम अमरीका आदि पूँजीवादी देशों और उनके विश्वव्यापी बहुराष्ट्रीय निगमों को देखते हैं तो यह अनुभव करने में कठिनाई नहीं जाती कि भारत और पश्चिम की सभ्यताओं में कितना फर्क है। ईस्ट इण्डिया के ज़माने से लेकर आज तक का सारा उद्योग, व्यापार आर्थिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद भारत के लोगों के बुनियादी चरित्र को बदलने मतें कामयाब हुए हैं और अब यह कह पाना मुश्किल है कि यहाँ पैदा होते लोग सचमुच कितने भारतीय रह गए हैं। अब तो यह अपेक्षा भी शायद अनुचित और अपराधपूर्ण मानी जाए कि हममें अन्य राष्ट्र-राज्यों की तुलना में अधिक उदारता और विश्वबन्धुत्व होना चाहिए। वह दया, करुणा और क्षमा भाव भी जिसके लिए हम जाने जाते रहे हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमारी इस समस्या को समझने की एक कोशिश कभी की थी– 'हे मोर चित्त एई पुण्यतीर्थ जागो रे धीरे, एइ भारतेर महा मानवेर सागर तीरे' वाले अपने गीत में उन्होंने हमें उस नयी भारतीयता का साक्षात्कार कराने की कोशिश की है जिसके कि हम स्वाभाविक उत्तराधिकरी हैं। उन्होंने यह संकेत भी किया है कि हम अपनी जड़ों को या निखालिस अथवा ठेठ भारतीयता को अगर खोजना भी चाहें तो अब यह संभव नहीं रह गया है। हजारों सालों से हमने जो अनुभव किए हैं, जितनी जातियों के सम्पर्क में आते रहे हैं, उनके साथ हमारे इन सम्पर्कों और संवादों के चलते हमने इतने सारे जो लेन-देन किए हैं, उनके चलते हमीं कुछ के कुछ नहीं हुए हैं, वे भी इसी महामानवों के सागर में घुल-मिल कर इसकी स्वाभाविक तरंगों का हिस्सा बन चुके हैं।

यह एक कठोर ऐतिहासिक सच्चाई है और इससे हम इनकार नहीं कर सकते। इसलिए भारतीयता को लेकर जो शुद्धता और पवित्रतावाद की दृष्टि अपनाना चाहते हैं, उनको इस विचारभूमि पर चलने में परेशानी का अनुभव होगा तब भारतीयता का यह पद उनके लिए काफी असमंजसपूर्ण हो उठेगा कि वे इसे अपने संदर्भ में ग्रहण और मंजूर करें भी या नहीं। वे शायद पौराणिकों की हिन्दूवादी दृष्टि अपनाएँ और उन्हीं की सँकरी अवधारणाओं में कैद होकर रह जाएँ। जवाहरलाल नेहरू ने जरूर इस समस्या से निपटने के लिए एक पद की तलाश की और कहा कि यह देश और यहाँ के लोग सामासिक जीवन प्रवाह में विश्वास करने वाले लोग रहे हैं और ऐसा वे सदियों से करते आ रहे हैं। इसी आधार पर उन्होंने कहा कि हम भारतीयों की संस्कृति सामासिक अथवा कम्पोजिट है। 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखते हुए कविवर दिनकर ने भी अपनी सहमति इसी अवधारणा के प्रति प्रकट की और यह कहा कि समकालीन भारतीय संस्कृति को उन अनेक मोड़ों के बगैर देखना मुश्किल होगा। वैदिक प्रस्थानों के बाद अवैदिक कहे जाने वाले बौद्धों और जैनों के बाद उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत को भारतीय संस्कृति की पहचान निर्मित करने वाले कारकों के रूप में देखा और कहा कि भारतीय संस्कृति के यही चार अध्याय हैं। इसलिए भारतीयता की खोज और पहचान की कोई कोशिश इन चारों से गुजरे बगैर किसी भी स्थिति में संभव न होगी।

यहाँ मैं दो अन्य महान कवि-चिन्तकों की याद भी करना चाहता हूँ जिनमें से एक हैं सर डॉक्टर मुहम्मद इकबाल और दूसरे हैं हिन्दी कवि और नाटककार जयशंकर प्रसाद। इकबाल ने 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा' वाली नज़्म लिखी है उसमें समस्त भारतीयों को उन्होंने इस गुलिस्तान की बुलबुलों के रूप में देखा है। हमारी अपनी सभ्यता की प्राचीनता, अपराजेयता और कालजयिता की ओर भी उन्होंने साफ इशारे किए हैं। पर जो सबसे बड़ी बात है वो यह कि हम हिलमिल कर रहने की कला जानते हैं और दूसरों को सिखाते भी हैं। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटक 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में अलग-अलग प्रसंगों में दो गीत लिखे हैं। स्कन्दगुप्त में जो गीत है वो समवेत गायन के लिए है और जिसमें भारत के गौरव और भारत की महिमा का सविस्तार वर्णन किया गया है। प्रसाद ने इसमें जिन गुणों का गान किया है उसमें इकबाल की तरह भारत की प्राचीनता भी है। किन्तु इससे भी कहीं अधिक भारतीयता मेधा की उत्कृष्टता और भारतीय मनुष्य के चमत्कारी पुरुषार्थों की याद भी की गई है। उस गीत में अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों के जीवन में हमारे प्रदेयों की भी ब्यौरेवार चर्चा है। उदाहरण के लिए उन्होंने चीन-जापान आदि देशों में गए बौद्धधर्म को भारत द्वारा दी गई धर्म-दृष्टि कहा है। ज्ञान-विज्ञान में तो प्राचीन भारत सबसे आगे रहा ही है। इन्हीं प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में एक गीत सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया के मुँह से गवाया है। उसकी शुरुआती कुछेक पंक्तियाँ याद आ रही हैं–

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा

अनजान क्षितिजों को सहारा देनें का काम यह देश हमेशा से करता रहा है।

बीसवीं सदी के अन्तिम दशकों मे छपकर आए कमलेश्वर के बहुपठित उपन्यास 'कितने पाकिस्तान' के अंतिम पन्नों से गुजरते हुए हम दो तरह के एहसासों से भर उठते हैं। पहला तो बेहद वितृष्णापूर्ण और भयावना है जिसमें पश्चिम की तिज़ारती सभ्यताओं ने व्यापार के नाम पर हमें बुरी तरह लूटा-खसोटा और लगभग बरबाद कर दिया। पर दूसरा एहसास हमें आत्म गौरव से भर देता है जब हम यह पढ़ते हैं कि हमारे पुरखे भी आस-पड़ोस के मुल्कों में गए पर बोधि वृक्ष और ज्ञान का दिया लेकर। बारुद लेकर तो कदाचित नहीं। इसलिए हमने दुनिया भर में अहिंसा, करुणा और प्रेम का संदेश दिया। विपरीत इसके पश्चिम के देशों ने पूरब के देशों और संस्कृतियों से उनका स्वत्त्व तक छीनने की भरपूर कोशिशें कीं।

जिन दिनों भारत को जानने के खयाल से मैं वैदिक साहित्य में उस काल की समाज और राज-व्यवस्था की जानकारी इकट्ठी कर रहा था मुझे दो अत्यन्त केन्द्रीय शब्द मिले 'ऋत्' और 'सत्'। ऋत् तो ब्रह्माण्ड-व्यवस्था (कॉस्मिक आर्डर) का ही दूसरा नाम है। हमारे उन दिनों के पुरखों ने अपनी सामाजिक और धार्मिक चेतना का विकास इसी व्यवस्था को देखते और समझते हुए किया। पर वह समय भी आया जब हमारे पुरखों का दंभ अनियंत्रित हो उठा और हमारी रची दुनिया प्रलय में डूबने लगी। इसी का चित्रण करते हुए 'कामायनी' के कवि प्रसाद ने लिखा—'प्रकृति रही दुर्जेय पराजित हम सब थे डूबे मद में।' प्रसाद ने उसी 'कामायनी' में यह भी दिखाया कि किस तरह हमने स्वाभाविक और सहज का पथ छोड़ अतियों का रास्ता अपनाया और प्रलय के शिकार हुए। ऋत की सारी अर्थवत्ता को तभी तो इसी नैसर्गिकता में खोजने की सलाह दी गई है। ऋतुओं और मौसमों का आना-जाना, सूरज और चन्द्रमा की गतिविधियाँ, फसलें, फूल और फल, यहाँ तक कि हमारा अपना जीवन भी इसी व्यवस्था का हिस्सा है। हम न तो अकेले हैं, न हो सकते हैं। हमारे होने में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का योगदान है। इसलिए यह दम्भ नहीं पाला जा सकता कि कुछ भी और कोई भी नहीं होगा तब भी हम होंगे। यह सोच ही भ्रम पूर्ण और निराधार है। बल्कि एक बहुत बड़ा मुगालता है। असत्य है। ब्रह्माण्डीय व्यवस्था का अपने विधान के अंतर्गत चलना ही सत्य है।

भारत के लोगों के मन में इस व्यवस्था के प्रति हमेशा निष्ठा रही आई है। उनकी समाज-व्यवस्था और राज-व्यवस्था के ढाँचे के पीछे भी कहीं इन बातों का कोई योगदान रहा है। इसी के पालन को यहाँ धर्म कहा गया।

आज धर्म को लेकर हमारी धारणाएँ भी बदली हैं। और सोच भी। हमारी राज-व्यवस्था ने अपने को धर्म से निरपेक्ष कर लिया है। इसके कारणों में जाने की जरूरत इसलिए है कि धर्म के मूल अर्थ से हम दूर चले आए हैं। हमें याद रखना होगा कि भारत में धर्म का मतलब

मानवीय सदाचरणों से है। इसीलिए मोटे तौर पर कह दिया गया कि धर्म वही है जिसे धारण करने योग्य माना जाय; तभी किन्ही विकट स्थितियों में पहुँच यह भी कहा गया—'अहिंसा परमो धर्मः।'

सोचता हूँ यदि पूजा-पाठ, नैवेद्य, बलिदान या कुर्बानी किसी देवी-देवता के चरणों में बैठना ही धर्म है तो फिर तो रावण से बड़ा धार्मिक कौन है? हमारे अपने समय में तमाम चोर-लुटेरे, डकैत और यहाँ तक कि इनकम टैक्स चोर भी, तमाम घूसखोर और भ्रष्टाचारी लोग पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन मे डूबने का दिखावा करते हैं। क्या भारतीय मानस इन सब क्रियाओं को धार्मिक मान लेने को कभी तैयार होगा। निराला की कविता 'राम की शक्ति-पूजा' की ही यह पंक्ति है 'रावण, अधर्मरत भी अपना, मैं हुआ अपर, यह रहा, शक्ति का खेल समर, शंकर, शंकर!'

भारतीय मन में ऐसे किसी भी पूजा पाठी मन को धार्मिक नहीं माना। धर्म की असली पहचान तो उसकी मनुष्यता में है। पश्चिम में भले ही वह चर्च के अधीन या उसके हाथ में एक प्रलोभनकारी ताकतवर सत्ता के रूप में रहा हो और एक समय तक उसने अपने ही अनुयायियों का भरपूर दमन किया हो पर यहाँ तो धर्म का यह रूप और ऐसा अर्थ कभी मंजूर नहीं किया गया। उलटे यह कहा गया कि—'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्/धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।' (—गीता, 4.8)

धर्म वह है जो दुष्टों का विनाश कर भद्र नागरिक समाज को उनके अत्याचारों से मुक्ति दिलाता है। इसलिए धर्म अन्याय और अत्याचार विरोधी चेतना का नाम है। राम और कृष्ण, गौतम बुद्ध और महावीर, कबीर, सूर-तुलसी, गाँधी आदि इसीलिए तो याद किए जाते हैं कि इन्होंने धर्म के इस स्वरूप की रक्षा के लिए अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभाईं।

आज अगर हमारे नेशन-स्टेट इण्डिया के सन्दर्भ में 'धर्म' इतना गर्हित और वर्जित शब्द हो गया है तो उसका कारण यह पारंपरिक धारणा नहीं है बल्कि पूजा-घरों और पूजा पद्धतियों से जुड़ी अर्थवत्ताएँ हैं जो धर्म को एक सँकरे साम्प्रदायिक अर्थ में तब्दील कर चुकी हैं। आश्चर्य यह कि हम फिर भी जब-तब यह पंक्ति गाते हैं—'मजबह नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।' 'अंग्रेजों से पहले का भारत' शीर्षक अपनी ऐतिहासिक व्याख्यान माला में सुप्रसिद्ध गाँधीवादी समाज-विज्ञानी धर्मपाल ने इन भटकावों पर चिन्तन करते हुए कहा—'मुझे लगता है कि हमारा समाज और हमारी राज्य व्यवस्था जिस तरह की दो अलग-अलग दुनियाओं में बँटती जा रही है, उसके पीछे गहरे और दार्शनिक कारण हैं। शायद भारत के लोगों का चित्त और इसके आधार पर जो निजी संसार उन्होंने बनाया है वह एक ऐसी दुनिया से मेल नहीं बैठा सकता, जिसमें वर्गों और क्षेत्रों के बीच एक अनिवार्य विद्वेष रहता हो।'

धर्मपाल की इस सोच से यह तो पता लगता ही है कि डेढ़-दो सौ सालों की परतंत्रता ने हमें भीतर से काफी कुछ बदल डाला है और आज उससे उबरना इतना आसान नहीं रह गया है। लेकिन हमारी बेचैनियाँ फिर भी जारी हैं और हम अपनी धुरी पर लौटने की इच्छा से भरे हुए हैं। भारतीयता का प्रश्न इसी इच्छा से जुड़ा हुआ है। लेकिन यह इच्छा जितनी उत्कट, प्रिय और

सगी लग रही है, इसका साकार या फलवती होना उतना ही कठिन और चुनौतीपूर्ण भी है। 'हक़ीकत को लाए तख़ैयुल से बाहर मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाए'— जैसा काम। कारण फिर वही कि क्या हम अपने डेढ़-दो सौ बरसों के अवचेतनात्मक अंधकार से निकलने की किसी कोशिश से जुड़े हैं? क्या हम उन रास्तों के लिए बेचैन हैं, जो हमारी अपनी खोज और हमारे अपने चलने से बने हैं?

आज यह सवाल और भी मुश्किल-तलब हो उठा है क्योंकि हम एक और नए और पहले से अधिक मक्कार और मायाबी संजाल में फँस चुके हैं। एक ऐसी धूर्त विश्व-व्यवस्था के शिकंजे में फँस चुके हैं जिसका उस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था से कोई लेना-देना नहीं है जिसमें सत् और ऋत् केन्द्र में थे। इस व्यवस्था का केन्द्र सिर्फ मुनाफा है। काशीनाथ सिंह जैसे लेखकों की मानें तो यह व्यवस्था गाय की उस खुरदुरी जीभ की तरह है जो प्यार करने के बहाने चाटना शुरू करके हमारा अस्तित्व ही समाप्त कर देगी। न केवल हम भारत के लोगों का बल्कि उन तमाम मुल्कों का जो इसकी चपेट में हैं।

टेक्नोलॉजी और विकास की जो शुरुआती इबारतें यहाँ लिखी जा रही हैं, उनका भयावह परिणाम हम देशजता के लोप में देख रहे हैं। अकारण ही नहीं आदिवासी और वनवासी बिफरे हुए हैं, स्थानीय और आंचलिक बोलियाँ अस्मिता की लड़ाई लड़ रही हैं और नगरों, महानगरों, शहरों और कस्बों से दूर की नागरिक बस्तियों की भवें तनी हुई हैं और उनके माथे पर बल पड़ने लगा है। यह राष्ट्र एक अघोषित सांस्कृतिक बँटवारे की ज़द में आ चुका है जिसमें एक तरफ इण्डिया होगा तो दूसरी तरफ बचा-खुचा, दबा-कुचला और हर तरह से छला गया भारत। एक ऐसा भारत जिसमें अपनी पारंपारिक कारीगरी और सहज सृजनशीलता से वंचित वे शिल्पी, कारीगर और मेहनतकश लोग होंगे जिनके हक उन लोगों द्वारा बेरहमी से छीने जा चुके होंगे जो इण्डियावासी हैं। ये ही लोग विकास का फायदा लूटने वाले लोग होंगे और उस उत्तर-आधुनिक टेक्नोलॉजी के गुलाम भी जो देर-सबेर बाजार के इशारों पर जीते-जागते रोबोट में बदल चुके होंगे। टेक्नोलॉजी और उसे अपनी मुट्ठी में रखने वाला बाजार ही हमारा सबसे बड़ा ईश्वर होगा। एकदम आधुनिकतम प्रभु।

भारतीयता का अर्थ अगर स्वदेश में स्वाधीन होकर रहना है तो इसकी संभावनाएँ दिन-प्रतिदिन ख़त्म होती जा रही हैं। विश्व-व्यवस्था वाले, प्रसारवादी हिंसक बाजारों को भला यह क्यों मंजूर होगा कि आप भी अपनी स्वाधीन सृजनशीलता से काम लें। ऐसा करने पर तो उनका मकसद ही पूरा नहीं होगा और उनकी लुटिया ही डूब जाएगी। विश्व-व्यवस्था, जिसे आप-हम ग्लोबलाइजेशन कहते हैं, इसका सबसे पहला और आक्रामक हमला हमारी देशजता और स्थानिकता पर हो रहा है। हमारे स्वदेशी खान-पान, बोली-बानी, उठने-बैठने के हमारे तौर-तरीके धीरे-धीरे गायब होने लगे हैं और इण्डिया में रहने वाले इसे आधुनिकता मान रहे हैं। पूछने का मन होता है कि आधुनिकता का मतलब क्या पिछलग्गूपन, नकल और सृजनशून्य हो

उठना है? क्या हम खुद अपनी आधुनिकता नहीं रच सकते? अगर ऐसा न हुआ होता तो यहाँ स्वदेशी का आन्दोलन ही क्यों चलाया गया होता। वह हमारी सबसे जबरदस्त भारतीयता थी जिसका बौद्धिक नेतृत्व गाँधी ने किया जो राष्ट्रपिता कहलाए। इसलिए भारतीय वाले सवाल पर हमें निकट के इतिहास पर भी नजर डालने की जरूरत है। इससे हमारी आँख के जाले साफ होंगे और रास्ता दिखाई देने लगेगा। सेमीनार में आगे शायद समकालीनता और साहित्य पर भी चर्चाएँ होंगी। उम्मीद है कि ये न केवल बेहद उत्तेजक बल्कि उपयोगी भी होंगी। मैं तो भारतीयता वाले मुद्दे पर इतना ठहर गया कि अब अगर इधर भी आया तो मेरे लिए ही अगल से एक सेमीनार सत्र करना होगा। इसलिए मैं समकालीनता और साहित्य पर, या इन दोनों के संबंधों पर बहुत कुछ कहने से अपने आपको रोकूँगा, पर चूँकि आपने मुझे बीज-व्याख्यान के लिए चुना है इसलिए थोड़ी बहुत बातें मैं आपसे जरूर शेयर करना चाहूँगा।

हिन्दी के एक बड़े आचार्य ने यह लिखकर मुझे परेशानी में डाल दिया कि जिसे हम वर्तमान समझते हैं, वह तो पलभर में अतीत हो बैठता है। एक साँस में आया और दूसरी में चला गया। इसलिए वर्तमान तो कुछ होता ही नहीं, या तो अतीत होता है या फिर भविष्य। वह जो घटने वाला है। लेकिन घटते ही जो अतीत का हिस्सा हो बैठता है। तब जिसे हम समकाल कहते हैं, या कहना चाहते हैं क्या वह हमारा क्षणजीवी वर्तमान है या फिर वह अतीत जो अभी-अभी वर्तमान था।

यह भी थोड़ा मुश्किल-सा मुद्दा है। भारत के लोगों ने इसीलिए जब काल के बारे में सोचना शुरु किया तो बहुमत से वे इस नतीजे पर पहुँचे कि काल चक्रवत् है, लंबवत (Verticle) नहीं। वह रथ के पहिए की तरह है। इसलिए जो अतीत है, वह भी वर्तमान रहा होगा और जो वर्तमान था वह भी कभी भविष्य के गर्भ में रहा होगा। इसलिए भारत के लोग पुनर्जन्म और पुनरागमन में विश्वास करते हैं। लेकिन कौन से लोग? वे जो अपने को हिन्दू कहते हैं। बौद्ध और जैन कर्म के सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। पर इस्लाम और ईसाइयत पुनर्जन्म और काल की चक्राकार अवधारणा में विश्वास नहीं करते। वे मानते हैं कि चीजें और सृष्टि की एक निश्चित शुरुआत है और निश्चित समापन या ख़ात्मा ही होना ही है। इसलिए समकालीनता का सवाल जितना इन दोनों के लिए आसान है, उतना अन्यों के लिए नहीं। क्योंकि ये दोनों समय को बाँटने की सुविधाजनक स्थिति में हैं।

जब मैं इस सवाल को लेकर साहित्य में उतरता हूँ तो मुझे वे अनुभव समकालीन दिखते हैं जो मेरे जीवन-काल में, मेरे चारों ओर, तमाम उन लोगों के मार्फत हुए हैं जो मेरी ही तरह अपनी-अपनी सत्ताओं में सक्रिय रहे हैं। वे सारे प्रश्न जो मेरी ही तरह अन्यों को मथते रहे हैं, मेरी ही तरह बेचैन करते रहे हैं। ये प्रश्न चाहे धर्म, राजनीति और राज-व्यवस्था के हों या फिर प्रेम और घृणा, हिंसा-अहिंसा के। इसलिए समकालीनता की कसौटी मैं स्वयं हूँ। मेरे अनुभव मेरी चिन्ताएँ, मेरी आशंकाएँ मेरे सपने—सबके सब। ये तात्कालिक और फौरी भी हो सकते हैं

और कुछ पारंपारिक भी। इस दृष्टि से समकालीनता को लेकर हमें अधिक लचीली दृष्टि और उदार रूख अपनाना होगा। अन्यथा हम आत्मकेन्द्रीयता के शिकार हो उठेंगे।

अगर हम समकालीन हैं तो हमारे अनुभवों में सबके अनुभवों की पैदाइश होनी चाहिए। यहाँ अकस्मात् राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त के 'साकेत' की उर्मिला की याद आती है। गाँधीजी उससे होकर गुजरे तो उर्मिला का अनुभव या चित्रण उन्हें अपने समकाल का चित्रण या अनुभव नहीं लगा। बीसवीं सदी की जिस स्त्री की कल्पना वे कर रहे थे उसमें इतना रोना नहीं था। अगर कभी उन्होंने 'कामायनी' की श्रद्धा और इड़ा का चित्रण देखा होता तो शायद कहीं अधिक आश्वस्त और प्रसन्न हुए होते।

कहना यह कि समकालीनता की एक पहचान उन प्रश्नों और चिंताओं से होगी जो एक पूरे समाज और समय को घेरे हुए हैं कविता या साहित्य में इनकी मार्मिक या तेजस्वी या फिर आक्रामक उपस्थिति ही रचना की समकालीनता को प्रामाणिकता सौंपेगी। इस रूप में प्रेमचन्द, रेणु, धूमिल, मुक्तिबोध, नागार्जुन भवानी प्रसाद मिश्र या रघुवीर सहाय या फिर किंचित फौरी कुछेक अन्य चर्चित लेखक और कवि अथवा शायर।

शायद सूची गिनाकर मैं अपनी बात को जरूरत से ज्यादा कुछ सीमित और स्थूल बना रहा हूँ फिर भी जब गिना ही चुका तो पछतावा क्या? जो भूल हो गई, हो गई। अब उसका ग़म क्या।

जिन दिनों मैं रिसर्च कर रहा था मेरे गुरुदेव आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने निर्देशन के दौरान यह कहा कि 'प्रसाद की कल्पनाएँ भारतीय हैं।' उनके कहे को समझ न पाने के चलते मैंने विनयपूर्वक कहा कि उनकी बात समझने में मुझे दिक्कत जा रही है। तब उन्होंने मुझे प्रसाद के 'आँसू' का यह छंद सुनाया—

उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी वैसे
चंचला स्नान कर आवै
चन्द्रिका पर्व में जैसे

इन पंक्तियों का अर्थ समझाते हुए उन्होंने मुझे याद दिलाया कि भारत में स्नान का कितना महत्त्व है और सौन्दर्य-विधान में स्नान जैसी क्रिया की कितनी प्रबल और आधारभूत भूमिका है। यह भी कहा कि पश्चिम में स्नान को यह दर्ज़ा नहीं मिला है। इसका कारण यह कि पश्चिम सर्द मुल्कों वाला है जबकि भारत नहीं। यहाँ पसीना होता है। धूप तेज होती है। गर्मी की तपन होती है। इसी तरह उन्होंने यह भी संकेत किया कि प्रसाद अपनी बिछड़ी हुई प्रेमिका से अगले जन्म में मिलने की बात करते हैं। ऐसा तो वही कवि सोचे और कहेगा जिसमें पुनर्जन्म में विश्वास हो।

इसके ठीक विपरीत जब मैंने बाद के दिनों में भारत और पश्चिम के सौन्दर्य शास्त्र को लेकर अपनी जिज्ञासा एक पत्र के मार्फत डॉ. रामविलास शर्मा के सामने रखी तो उन्होंने अक्खड़

जवाब देते हुए लिखा कि सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र होता है, उसमें पूरब और पश्चिम क्या? न जाने क्यों उनके इस उत्तर को मैं अपने मन में नहीं उतार सका। पर वह अवसर भी जब मुझे अन्य दो विद्वानों को सुनने का अवसर मिला जिनमें से एक का संबंध भारत के रंगमंच और नाट्यशास्त्र से था तो दूसरे का भारतीय पुरातत्त्व और प्राच्यविद्याओं से। पहले से मैं यह समझ पाया कि भारत में ट्रैजिडी नाटक क्यों नहीं लिखे जा सके और क्यों यहाँ रस प्रधान नाटकों की रचना हुई। क्यों अरस्तू कैथारसिस या विरेचन को नाटक का अभिन्न प्रयोजन मानता है। इन विद्वान आचार्य का नाम कमलेशदत्त त्रिपाठी है। दूसरे डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डे थे जो एकाध सल पहले ही हमें छोड़कर गए और इस चिन्ता के साथ कि बोशांके के सौन्दर्यशास्त्र में भारतीय सौन्दर्य चिंतन को क्यों सम्मानजनक जगह तक नहीं दी जा सकी? क्या वह पश्चिम का कोई वैसा ही खेल नहीं जैसा अहिंसा और मैत्री का संदेश देने वाले गाँधी को लेकर नहीं खेला गया और विश्वशांति का नोबुल उन्हें नहीं दिया गया।

आज, भारतीयता और साहित्य पर सोचते हुए हमें सावधानीपूर्वक उन तमाम संकीर्णताओं और साम्प्रदायिकताओं से ऊपर उठना होगा जो हमारे आकाश की सीमाबद्ध करती हैं और हमें अनेक ऐसे क्षुद्र बँटवारों का शिकार बना देती हैं जिनसे हमारी चेतना का विस्तार कम होता है। हमारे सपने छोटे होने लगते हैं। हम या तो हिन्दू और मुसलमान इत्यादि रह जाते हैं या फिर ब्राह्मण और शूद्र, हरिजन इत्यादि।

हमारी समकालीन भारतीयता की सबसे प्राथमिक माँग तो यही है कि हम अपने स्वदेश में लौटें और आकांक्षित स्वाधीनता की प्राप्ति कर सहज सृजनशीलता की ओर बढ़े। एक ऐसे साहित्य की रचना करें जिसे पढ़कर हमारे चारों तरफ के संस्कारबद्ध रूढ़ अँधेरे छँट सकें। हमारी सोचने की जड़ पद्धतियों से हमें मुक्ति मिल सके और उस कथित तौर पर सनातन किन्तु दलित, स्त्री और शूद्र विरोधी व्यवस्था से जिसने हमें अभी भी तरह-तरह से अपना गुलाम बना रखा है।

सार और संकेत रूप में ही कहना हो तो निराला की वह कविता जो अंध हृदय के बंधनों को काटने और जग को जगमग करने की आकांक्षा से भरी है। या फिर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ का वह गीत जिसमें कहा गया है कि—चित्त जहाँ भयशून्य मुक्त हो ज्ञान जहाँ पर।

भारत को अगर सचमुच भारतीयता की तलाश की चिन्ता है तो हमें इन सारे पन्नों पर लिखी इबारतों को नए सिरे से पढ़ना होगा।

एम-29, निराला नगर
दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल

—असम विश्वविद्यालय, सिलचर के हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित राष्ट्रीय सेमीनार में पढ़ा गया बीज भाषण।

शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य

–यशदेव शल्य

'शिक्षा' शब्द मनुष्य के सीखने-सिखाने के अर्थ में ही रूढ़ है, यद्यपि सीखना-सिखाना पशुओं में भी होता है। पशुओं का सीखना-सिखाना शारीरिक या सांवेगिक अभ्यासमूलक होता है जबकि मनुष्य की शिक्षा मन और बुद्धिमूलक होती है। चेतना के ये दो बहुत भिन्न स्तर हैं। ऐसा नहीं है कि पशुओं में बुद्धि नहीं होती, बहुत होती है, किन्तु वह जैव प्रयोजनमूलक उपाय–बुद्धिमात्र होती है, और वह भी अधिकांशतः आनुवांशिक होती है, स्वतंत्र विचारमूलक नहीं होती। मनुष्य की चेतना का वैशिष्ट्य उसके आत्मचेतन होने में है और यह वैशिष्ट्य उसकी बुद्धि को भी नितांत भिन्न रूप दे देता है। इस चेतना और इस बुद्धि के कारण ही मनुष्य में भाषा का आविर्भाव हुआ और भाषा के माध्यम से ऐसी अर्थ-राशियों का जिनसे सदसद्-विवेक, शास्त्र और विज्ञान तथा काव्य और कलाएँ ये सब संभव हुए। अब, कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को इन सब में दक्षता देना है। शिक्षण संस्थाएँ यही करने का प्रयत्न करती भी हैं। किन्तु तब भी शिक्षा के उद्देश्य को लेकर कोई ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग शिक्षा का उद्देश्य तीन आर्स (रीडिंग, राइटिंग, ॲरिथमैटिक–पढ़ना, लिखना और गणित) सिखाना ही मानते हैं, कुछ दूसरे इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण मानते हैं। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यद्यपि लिखना, पढ़ना, गणित और चरित्र (सदसद्) आत्मचेतना को पूर्वमान्य करते हैं : चेतना के आत्मचेतन होने पर ही ये सब संभव हो सकते हैं : किन्तु ये सब सिखाये इस प्रकार भी जा सकते हैं जैसे पशु को सिखाया जाता है–अभ्यास के द्वारा। कहते हैं कौरव-पांडव जब शिक्षा के लिए द्रोणाचार्य के आश्रम में गए तो उन्हें पहले दिन पढ़ाया गया–'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यान्मा प्रमदः'–सत्य बोलो, धर्मपूर्वक आचरण करो और स्वाध्याय में कभी आलस्य नहीं करो। अगले दिन युधिष्ठिर के सिवाय यह पाठ सब ने सुना दिया। युधिष्ठिर यह पाठ जब आगे तीन दिन भी नहीं सुना पाये तो गुरु ने उन्हें डाँटा। इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि "ये वाक्य याद करने के लिए थोड़े ही हैं, ये तो जीवन में अपनाने के लिए हैं। मैं अभी तक अपने को इसके लिए तैयार नहीं कर पाया था, इसलिए आपको नहीं सुना सका।" यह ठीक है। विधि-वाक्य सीखने-सिखाने का तो यही अर्थ होना चाहिए। किन्तु इसका एक और पक्ष भी है जो इससे भी पहले आना चाहिए, और वह है यह जिज्ञासा कि 'क्यों सत्य ही बोलना चाहिए,

असत्य नहीं बोलना चाहिए?' आदि। सदसद्– विवेक में दो पक्ष हैं– 'क्या सद् है और क्या असद्' यह भेद-ज्ञान, और 'क्यों सद् सद् है और असद् असद्' यह विमर्श। इनमें पहला पक्ष जबकि दूसरे पक्ष के ज्ञान : विमर्श से निर्णय : को पूर्वगृहीत करता है, शिक्षा में दूसरा पक्ष बाद में सीखने के लिए स्थगित रखा जाता है और वास्तव में तो यह कुछ थोड़े से लोगों, जिन्हें दार्शनिक कहते हैं, के लिए छोड़ दिया जाता है और शेष लोग इस पर अपनी शक्ति का 'अपव्यय' नहीं करते। किन्तु मात्र अभ्यास और मात्र विमर्श के बीच की भी एक सिति होती है– सहज समझ या सहज ज्ञान की, जिसमें हम मूलगामी तर्क-वितर्क के बिना भी सद् और असद् को पहचान सकते हैं। कहा जा सकता है कि शिक्षा का कार्य विमर्श-बुद्धि का विकास भी होना चाहिए, किन्तु उससे अधिक इनको पहचानने वाली सहज बुद्धि को उद्‌बुद्ध करना होना चाहिए। इस सहज बोध के बिना तो धर्म और औचित्य जैसे विषयों में हमें विमर्श भी कुछ नहीं दे सकता, वह केवल भटकता ही सकता है। यही बात पढ़ने, लिखने और गणित के सम्बन्ध में भी सही है। इनके ज्ञान का अर्थ अभ्यास से आरम्भ कर इनसे व्यंग्य अर्थ-राशियों को 'देख सकने' और नयी अर्थ-राशियों को सरजने की योग्यता प्राप्त करना होता है।

किन्तु शिक्षा इस प्रकार भी दी जा सकती है कि विद्यार्थियों में अभ्यास-वृत्ति बढ़े और इस प्रकार भी कि उनमें दृष्टि : तत्त्वों को देखने की योग्यता उद्‌बुद्ध हो। हमारे देश में शिक्षा का रूप अधिकांशतः प्रथम प्रकार का ही रहा है। अन्य देशों में इससे कोई भिन्नता है, यह कहना कठिन है। यह बात दूसरी है कि पहले के और आज के समाजों में गति और अभिवृत्ति का अन्तर है– पहले के समाजों में एक स्थिरता और पारंपरिकता अधिक थी और आज के समाजों में परिवर्तन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं। इसी के अनुरूप पहले की शिक्षा और आज की शिक्षा में एक अन्तर भी दिखायी देता है। आज शिक्षा में भी परिवर्तन की गति तीव्र है। किन्तु आज समाज में परिवर्तन की गति का मूल चेतना में नहीं हो कर बाह्य उपकरणों के आविष्कारों में है, इसी से शिक्षा में भी परिवर्तन नयी 'दृष्टि के रूप में नहीं होकर पाठ्य-विषयों में परिवर्तन के रूप में ही हो रहा है– कभी डाक्टरी के लिए अधिक दौड़ लगती है तो कभी इंजीनियरी के लिए, कभी कम्प्यूटर के लिए तो कभी लोक-प्रशासन के लिए। किन्तु यदि कहें कि समाज और शिक्षा में इस गतिशीलता से समाज में और शिक्षा में अभ्यास-वृत्ति के बजाय दृष्टि की सृजनात्मकता भी अधिक बढ़ रही है तो यह एकदम ग़लत होगा। यों तो पारंपरिकता से आभ्यासिकता की ही वृद्धि होनी चाहिए और परिवर्तनशीलता से आभ्यासिकता में कमी आनी चाहिए; ऐसा एक सीमा तक हुआ भी है; किन्तु आभ्यासिकता में कमी से दृष्टि का पैनापन भी बढ़े, ऐसा कोई नियम नहीं है। इससे समाज के पैर भी उखड़ सकते हैं और एक बदहवासी उत्पन्न हो सकती है। आज वास्तव में यही हो रहा है। दृष्टि की उद्‌बुद्धता के लिए चेतना में आत्मोन्मुखता, आत्म-मनन, आत्म-विमर्श की वृत्ति की अपेक्षा है जो वृत्ति मनुष्य को पशु से

अलग करती है, मात्र पारंपरिकता और गतिशीलता का भेद तो वैसा ही है जैसा जुगाली करने वाली पाशव चेतना और झटपट मांस चबा लेने वाली पाशव चेतना का। एक बार मेरे एक मित्र अमरीका हो कर आये तो वहाँ के माज मकी प्रशंसा में कहने लगे कि वहाँ लोग दफ्तरों और फ़ैक्ट्रियों आदि में सप्ताह में पाँच दिन 12-12 घंटे कड़ी मेहनत करते हैं और फिर दो दिन क्लबों, पिकनिक स्थलों में मौजमस्ती करते हैं। इस पर मैंने उनसे पूछा, ''वे सोचते कब हैं?'' इसका वे कोई उत्तर नहीं दे पाये। किन्तु यह प्रश्न उन्हें निरर्थक नहीं लगा। मुझे उसके उस जीवन-विधि के वर्णन से सचमुच बड़ा आतंक महसूस हुआ था, यद्यपि जुगाली-वृत्ति के हमारे समाज से भी मुझे भयानक कोफ़्त होती है। आज के समाज अमरीका के अनुकरण पर इसी बदहवास गतिशीलता की ओर जा रहे हैं— कार्य-कार्य-कार्य और आविष्कारों पर आविष्कार। किन्तु यह कार्य-परायणता किस लिए? अधिक मौज-मस्ती का सामान पैदा करने के लिए? कार्य-परायणता तो पहले भी थी, कर्मठता का ही आदर था। विद्यार्थी के लिए कठोर ब्रह्मचर्य का जीवन कठोर कार्यपरायणता का जीवन भी था। लोग कूलरों और हीटरों के बिना काव्यों, कलाकृतियों और शास्त्रों की रचना कठोर परिश्रम से ही करते थे, स्त्रियाँ चूल्हे-चौके के अतिरिक्त चरखा, चक्की, ओखली आदि के कार्य भी करती थीं। वह सब कार्य ही था और कठोर कार्य। किन्तु कार्य का वह रूप आत्ममननात्मकता के विपरीत वृत्ति का नहीं था। इसके अतिरिक्त वह मनोरंजन के तारतम्य में था, उसे कटा हुआ नहीं था। आज के कार्य का रूप मननात्मकता से एकदम विपरीत वृत्ति का है और मनोरंजन से कटा हुआ है। इसलिए इसमें सृजनात्मकता के लिए भी वैसा अवकाश नहीं है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि हमारा उपर्युक्त विवेचन अंशतः तो ठीक है किन्तु अधिकांशतः ठीक नहीं है, क्योंकि पारम्परिकता चिन्तन को भी स्थिर सरणियों में डाल देती है। पहले जैनों के घर जैन, बौद्धों के बौद्ध और वैष्णवों के वैष्णव ही पैदा होते थे। इतना ही नहीं, नैयायिकों के शिष्य नैयायिक, वेदान्तियों के वेदान्ती और शैवों के शैव ही होते थे। इसी प्रकार, काव्य में वही उपमाएँ और रूपक प्रयुक्त होते रहते थे। आज ऐसा नहीं है। यह सही है, किन्तु आज पश्चिम में प्रत्येक दशक में नये सिद्धान्त पुराने पड़ जाते हैं और काव्य में अभिव्यक्ति-रूप और वर्ण्य विषय पुराने पड़ जाते हैं। भारतीय काव्य तक में युग दशकों में आ कर सीमित हो गए हैं। यह परिस्थिति सृजनात्मकता की सूचक नहीं है बल्कि जड़ गति की सूचक है, क्योंकि इसमें नया किसी अन्तर्दृष्टि से उद्‌भूत या दृष्ट नहीं हो कर बाह्य परिस्थितिजन्य और अनास्थाजन्य है। आज की नित्य नवीनता एक ओर यांत्रिकीय आविष्कारों से जनित है और दूसरी ओर स्वयं नवीनता को ही मूल्य मान लेने की भ्रान्ति से जनित। इस पर कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक आविष्कारों का मूल भी तो चेतना में ही होता है, ये कोई चेतना से स्वतंत्र बाह्य प्राकृतिक आयोजन नहीं होते! यह सही है, किन्तु यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह चेतना स्वयं

बाह्यतः नियोजित चेतना है, नवीन सत्य की साक्षात्कारी चेतना नहीं है। अवश्य विज्ञान के आरंभिक आविष्कारों में चेतना की वृत्ति नये सत्य के दर्शन की ही थी, किन्तु पीछे यह वृत्ति निरन्तर यंत्राश्रित ही होती चली गई। आज आविष्कार स्वयं प्रौद्योगिकी का रूप ले चुके हैं इसके अतिरिक्त कि ये अब प्रतिभामूलक नहीं रह कर विशाल प्रयोगशालाओं में अस्तित्व में आते हैं जिनमें व्यक्ति पुर्जों के जैसे काम करते हैं। जहाँ तक नवीनता का प्रश्न है, यह आज स्वयं में मूल्य और प्रमाण बन चुकी है। आज आपको यदि जीना है तो दूसरों से भिन्न कुछ गढ़ कर ही जी सकते हैं। स्वभावतः इस नयेपन में अन्वेष्य सत्य नहीं होता बल्कि प्रतीति ही होती है। साहित्य तक में आज नये प्रयोगों की बात सुनते हैं, जिनका साध्य वैचित्र्य ही होता है, नये अर्थ-लोकों का उद्‌घाटन या पूर्व दृष्ट अर्थों में गहनतर अन्तर्दृष्टि नहीं होती। यही बात दर्शन या अन्य शास्त्रों-विज्ञानों में भी देखी जा सकती है। किन्तु यह गतिशीलता किस प्रकार आध्यात्मिक गति-हीनता या अधोगति की प्रापक है यह हम आज के मनुष्य के अनुसरणों और अभीप्साओं को देख कर अनुमान कर सकते हैं। विज्ञान और यांत्रिकी के क्षेत्र में अवश्य आज निरन्तर और तीव्र गति से प्रगति हो रही है, किन्तु यह एक बहुत बड़ी कीमत चुका कर— मनुष्य द्वारा अपने को अपने से बाहर रखने की कीमत पर। गति प्राचीन युगों में भी थी, किन्तु उसका क्षेत्र दूसरा था। उसके क्षेत्र अतिप्राकृतिक-अलौकिक विज्ञान और आध्यात्मिक विद्याएँ और साधनाएँ थीं। यह हम यद्यपि प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में देख सकते हैं किन्तु कम-से-कम भारत में तंत्र, फलित ज्योतिष और योग की विभिन्न शाखाओं के विकास के रूप में एक ओर और धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों के रूप में दूसरी ओर यह गतिशीलता निरन्तर देखी जा सकती है। किन्तु क्योंकि गतिशीलता के ये क्षेत्र बाह्य नहीं होकर अलौकिक और भीतरी हैं इसलिए उन युगों में हमें समाज में बाहरी पक्षों में गति-हीनता जैसी ही दिखायी देती है। किन्तु उसे गति-हीनता कहना केवल एक प्रकार की दृष्टि-हीनता का द्योतक ही कहा जायगा।

मनुष्य के इन अन्वेषणों ओर पर्येषणाओं में दिशा-भेद के अनुसार उसकी शिक्षा की धारणा में भी भेद दिखायी देता है। प्राचीन युगों में शिक्षा अनिवार्यतः लिखने-पढ़ने से संबंधित नहीं थी और इस प्रकार विद्यालय उसके एकमात्र केन्द्र नहीं थे जिस प्रकार आज हैं। उदाहरण के लिए व्यावसायिक शिक्षा के लिए विद्यालय नहीं थे। उस प्रकार की शिक्षा के लिए दूसरी व्यवस्थाएँ थीं और वे कोई कम कुशल व्यवस्थाएँ नहीं थीं। यही बात कलाओं की शिक्षा के सम्बन्ध में कही जा सकती है। आज शिक्षा जैसे व्यवसाय से जुड़ गई है वैसा पहले कभी नहीं था। इसके प्रमाण रूप में स्त्रियों को पढ़ाने के विरुद्ध दी जाने वाली यह युक्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि 'उन्हें कोई सर्विस नहीं करानी है तो उन्हें पढ़ाने की क्या आवश्यकता है?' आज उन्हें 'शिक्षा' इसलिए दी जा रही है कि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो सकें। किन्तु क्या शिक्षा का यह उद्देश्य और अर्थ 'मनुष्य की शिक्षा' का व्यावर्तक लक्षण कहा जा सकता है?

चिड़िया अपने बच्चों को उड़ना सिखाती है, इसी प्रकार वह भोजन की व्यवस्था करना और जीवन-रक्षा के दूसरे उपाय भी सिखाती होगी—जहाँ तक उन्हें ये सिखाने की आवश्यकता है। मनुष्य की शिक्षा के ये विषय बहुत जटिल और विकसित हैं इसलिए उसके लिए उसवे जटिल व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। किन्तु शिक्षा के इन दोनों रूपों मे उद्देश्य की दृष्टि से, या इनकी प्रकृति की दृष्टि से, कोई अन्तर नहीं कहा जा सकता। यह शिक्षा उन्हें जीवन के संघर्ष के योग्य बनाने के लिए ही होती है, जो उद्देश्य कि पशुओं की 'शिक्षा' में भी रहता है। तब मनुष्य की शिक्षा के उद्देश्य का वैशिष्ट्य क्या हो सकता है? यह वैशिष्ट्य मनुष्य के पशु से वैशिष्ट्य के अनुसार ही होना चाहिए। मनुष्य का वैशिष्ट्य धर्म-बोध, औचित्यानौचित्य-विवेक और काव्य तथा शास्त्र में प्राज्ञता का अर्जन आदि में देखा जाता है, इसी में मानव-शिक्षा का वैशिष्ट्य हो सकता है—मनुष्य को मनुष्यता में श्रेष्ठतर बनाना। इस पर आपत्ति हो सकती है कि धर्माधर्म-विवेक सिखाना विशेष रूप से विद्यालयों का कार्य नहीं हो सकता, यह तो सबसे पहले माता-पिता का और पीछे सभी परस्पर है! जब शिक्षा की बात की जाती है तब तो विद्यालयीय शिक्षा की बात ही की जाती है और विद्यालयों में तो काव्यशास्त्र और विज्ञान-व्यवसाय आदि में प्राज्ञता देना ही लक्ष्य हो सकता है।

यह सही है, किन्तु धर्माधर्म-बोध, औचित्यानौचित्य-विचार भी साधारण स्तर से लेकर उच्च से उच्चतर स्तरों का हो सकता है। इस बोध में उत्कर्ष देना भी शिक्षा का एक ऐसा उद्देश्य होना चाहिए जो अन्य सब प्रकार की शिक्षा का सहगामी हो, क्योंकि कोई अच्छा वैज्ञानिक, अच्छा काव्यशास्त्री, अच्छा दार्शनिक आदि होने के साथ धर्म-बोध और औचित्य-बोध में बहुत क्षीण हो सकता है और यह क्षीणता उसे बहुत हीन स्तर का मनुष्य बना देती है। इसे शिक्षा का आधारभूत उद्देश्य कहा जा सकता है। एक शिक्षा का 'आधारभूत गुण' कहा जा सकता है जो सब विषयों की शिक्षा में रहना चाहिए। वह है 'आत्मचेतना का गुण'। इससे यहाँ हमारा अभिप्रय है—सब प्रतिपादानों, स्थापनाओं, कथनों को स्वीकार करने से पहले उनके लिए युक्ति की जिज्ञासा करना। जैसे—विज्ञान के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा कि विज्ञान क्या है? फिर इसके उत्तर के सम्बन्ध में यह जिज्ञासा कि यह क्यों ठीक है? आदि।

इन दो—आधारभूत उद्देश्य और आधारभूत गुण—में प्रथम के सम्बन्ध में यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह विद्यालयीय शिक्षा का भाग कैसे हो सकता है? इस शिक्षा का प्रथम पाठ तो आचरणमूलक होता है, तर्क और विमर्शमूलक नहीं। आचरण 'पढ़ाया' नहीं जा सकता। अवश्य कथा-कहानियों के माध्यम से यह एक सीमा तक पढ़ाया भी जा सकता है, किन्तु यदि घर के बड़ों का और शिक्षकों का आचरण उसके विरुद्ध होगा तो बच्चा क्या सीखेगा? इसका उत्तर हो सकता है कि यदि शिक्षक पढ़ाने में कुछ और बताता है, या कहानियों में विद्यार्थी कुछ और पढ़ता है, और आचरण शिक्षक कुछ और करता है तो पहले तो शिक्षक स्वयं से ही गर्हित हो

जायेगा, और फिर शिष्य यह देख सकेगा कि शिक्षक गर्हणीय है। इसलिए धर्माधर्म और औचित्यानौचित्य के विवेक की शिक्षा विद्यालयीय शिक्षा का भी महत्त्वपूर्ण भाग होना चाहिए। किन्तु इसके लिए धर्म-शिक्षा की अलग से घंटी नहीं होनी चाहिए, बल्कि यह पाठ्यक्रम में बहुत सूक्ष्म रूप से अंतर्गत बोध के रूप में रहना चाहिए। किन्तु यहाँ यह चेतावनी आवश्यक है कि यह शिक्षा आलोचना-बुद्धि को कुंठित करने वाले विश्वास के रूप में नहीं देकर इस बुद्धि को जगाते रहने के साथ देनी चाहिए। धर्म और औचित्य-विचार में यह बड़ा दोष रहा है कि इन्हें आलोचना-बुद्धि से दूर आस्था के साथ जोड़ा जाता रहा है। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। धर्म से अधिक तर्क-सम्मत दूसरा कुछ क्या हो सकता है? जिस तर्क से धर्म की आचरणीयता और अधर्म की अनाचरणीयता सिद्ध नहीं होती तो यह दोष उस तर्क का ही कहा जायेगा। दूसरी ओर, जो धर्म-मत तर्क से सम्मत नहीं है उस धर्म-मत में कोई दृष्टि-दोष है, यह मानना चाहिए।

पी-51, मधुवन पश्चिम
किसान मार्ग, टोंक रोड
जयपुर (राजस्थान)-302018

आधुनिकता का संस्कार : विश्व-चेतस् हिन्दी और हम

–रमेशचन्द्र शाह

'हिन्दी भारत के हृदय की कुंजी है'–यह हिन्दी के ही एक दिवंगत समकालीन कवि और चिंतक का कथन है। क्या यह सचमुच सम्भव है कि हम अपने हृदय की बात सुन सकें और बगैर किसी लाग-लपेट के उस बात को सबको यथावत् सुनाने का उपक्रम भी कर सकें?

सबसे पहले इस तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि हिन्दी की आधुनिकता उस तरह कोई ईसा की बीसवीं सदी की उपज तो है नहीं : हिन्दी तो सदा से ही आधुनिक रही है। हिन्दी का जो देश है, वह तो अपने-आप में भाषाओं और संस्कृतियों की टकराहटों का, संगमों का देश है। हिन्दी, सच पूछा जाए तो बनी ही उन टकराहटों-संगमों से है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के मुहावरे में कहें तो युग की 'आवश्यकता की पुकार' के अनिवार्य प्रत्युत्तर की तरह। हिन्दी का तो, मानो परम्परागत दायित्व ही यह रहा है कि वह जिस अर्थ में अमीर खुसरों के जमाने में आधुनिक थी, कबीर और फिर तुलसीदास के समय में आधुनिक थी, उसी अर्थ में दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस और भारतेन्दु की उन्नीसवीं सदी में और मैथिलीशरण, निराला, अज्ञेय की बीसवीं सदी में भी आधुनिक बनी रहे। जरा गौर से इसके विभिन्न चरणों की गति-विधि को हम परखें तो पाएँगे कि भावबोधपरक अग्रमामिता का संस्कार सदैव इसके साथ रहा है और इसी सहज संस्कारशीलता के बूते वह सारे देश के आत्म-नवीकरण हेतु आवश्यक परिवर्तनों का नेतृत्व करती रही है। संस्कृत का कवि 'इदं कवेभ्यो पूर्वेभ्यो' कह कर काम चला सकता था। मगर संस्कृत और 'भाखा' की सीधी उत्तराधिकारिणी हिन्दी अपने कवि से यही कहलवा सकती है कि 'भये, जे अहहिं, जे होइअहि आगे/प्रनवऊँ सबहिं कपट सब त्यागे।' इसलिए, कि हिन्दी अपने स्वभाव और स्वधर्म से ही सदा आगे देखने वाली भाषा है। और क्यों न हो? उसे एक समग्र भारतीय अस्मिता की वाणी बनने का और तदनुसार, तदनुरूप विश्व की सर्वाधिक विश्व-चेतस् सभ्यता की संवाहिका जो बनना है। वह भी तमाम तरह की भीतरी और बाहरी प्रतिकूलताओं से जूझते हुए–उनके बीचोबीच। और अपने ही सबसे तेजतर्रार बुद्धिजीवियों से–अपने ही घर के भेदियों से–'साम्राज्यवादी' की तोहमत भी अपने ऊपर लगवाते हुए।

हिन्दी किसी की मातृभाषा नहीं। धातृभाषा उसे कह लें भले। तो भी, आखिर कोई तो बात होगी कि दूसरी भाषाओं में ख्यात हो चुके और एक-से-एक समृद्ध बोलियों के अंचल

में पले-पुसे लेखकों ने भी आत्माभिव्यक्ति के अनिवार्य माध्यम के रूप में इसी का वरण किया। मुक्तिबोध हों, चाहे प्रेमचंद हों, बल्कि जो जितने ही भिन्न परिवेश का संस्कार ग्रहण करने के बाद, जितने ही ज्यादा तिरछे कोण से अपना रचनात्मक उन्मोचन पाने के लिए हिन्दी में आया—जैसे निराला, वही इसका सबसे समर्थक-साधक-आराधक और सबसे दूरगामी टक्कर पैदा करने वाला प्रयोक्ता साबित हुआ। आखिर, कैसे और क्यों? जाननेवाले अपने अनुभव से जानते हैं—कि हिन्दी के कवि को अपनी आवाज इस माध्यम के जरिए कमाने के लिए कैसा तपना-खपना पड़ता है। अर्थ की तयशुदा लीकों पर एक आइडियोलॉजिकल रेहटरिक और मोर्चा-बुद्धि से साहित्य को हाँकने वालों की बात दूसरी है, परन्तु जो सचमुच परम्परा को अपने लिए फिर से खोज सकने—कमा सकनेवाले यानी सचमुच आधुनिक संवेदना के कवि हैं, उन्हें इस सपाट भाषा की सतह पर न तो अपनी अतिसंवेदनशील स्नायुओं को पुसाने वाली कोमलकांत पदावली सुलभ रही, न उस तरह भक्तिकाल और रीतिकाल में सिद्ध किये गए घुलावटी रसायन का ही कोई अटूट सिलसिला उन्हें उस वाक्य-विन्यास में आसानी से भाषा की सतह पर ही सुलभ रहा, जिसमें और जिसके जरिए उन्हें अपनी काव्य-मुक्ति हासिल करनी थी—अपनी देशकाल-विद्ध चेतना से उत्तीर्ण अभिव्यक्ति पानी थी। मर्ढेकर और तुकाराम के बीच, रवीन्दनाथ और चंडीदास (या चैतन्य देव) के बीच भाषा की वह टूट-फूट, वाक्य विन्यास और क्रियापदों का वह आमूलचूल रूपांतरण कहाँ दिखता है जो निराला की काव्यभाषा और तुलसीदास की काव्यभाषा के बीच साफ नजर आता है? वह घुलावटी रसायन तत्सम-तद्‌भव का, वह सुरीला संगीत यहाँ कहाँ।

ऐसे में अचरज की बात नहीं, कि हिन्दी की सृजनात्मक उपलब्धियों को लेकर कई तरह के पूर्वाग्रह हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के लेखकों में, और अंग्रेजी माध्यम में अपना बुद्धि-व्यापार चलाने वाले बुद्धिजीवियों में प्रगट होते रहे हैं। उन्हें कौन समझाए कि एक सांस्कृतिक-दार्शनिक और ऐतिहासिक चुनौती वह थी जिसके प्रत्युत्तर स्वरूप मध्ययुग की 'लिंग्वा-फ्रैंका' 'भाखा' उठ खड़ी हुई थी और फिर जब कालान्तर में एक दूसरी और विकटतर सांस्कृतिक-ऐतिहासिक चुनौती उसी मध्यप्रदेश के सामने प्रस्तुत हुई तो एक बार फिर से इस 'भाखा' को अपना कायाकल्प करना पड़ा। स्वयं को फीनिक्स पक्षी की तरह कालाग्नि में झोंक कर खड़ी बोली हिन्दी के चोले में पुनर्जन्म लेना पड़ा। अन्य भारतीय भाषाओं का कायिक नैरन्तर्य कमोबेश यथावत् बना रहा। किन्तु, इसका मतलब तब यही न हुआ कि यह जो अन्तर—भारतीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान का केन्द्रीय सेतु और माध्यम है, इस पर विशेष दायित्व है भारत की समग्र सांस्कृतिक अस्मिता को वहन करने का। और उसी के अनुरूप उसका सृजनात्मक स्वभाव और भूमिका भी होगी। अब, चूँकि इस देश में काव्य (यानी साहित्य) की यूँ भी एक सर्वथा विलक्षणा महिमा और भूमिका रही है—धर्म-संस्थापना सरीखा कार्य भी आत्म-दर्शन और विश्व-सरीखा दार्शनिक कार्य भी काफी-कुछ यहाँ काव्य के जरिए ही निष्पन्न होता रहा है। हर

युग में इस भारतीय सभ्यता और संस्कृति को परिभाषित पुनर्मूल्यांकित करने का उद्यम भी उसी ने किया है, तो, हिन्दी कवि को भी यह दुहरा दायित्व निबाहना ही है। उसे एक ओर 'कल्चरल क्लेयरिंग हाउस' का काम भी करता है, और दूसरी तरफ कालगति को भी सबसे आगे बढ़कर पहचानना-पचाना है। अपनी जातीय स्मृति और सांगीतिक समृद्धि की विरासत भी उसे भाषा की सतह पर ही सुलभ नहीं हो सकती; उसे गहरा उत्खनन करना पड़ता है अपनी भाषा के संजीवनी स्रोतों तक पहुँच पाने के लिए।

समग्रतः हिन्दी भाषा और साहित्य में सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्परा की किस रूप में अभिव्यक्ति हुई है और अभिव्यक्ति के रूप ही नहीं, अभिव्यक्ति-परम्परा भी कैसे बदलती रही है अथवा पुनर्नवित होती रही है, यह हमारी विचारणा का विषय है। यह भी, कि देश-काल, मनुष्य प्रकृति इत्यादि को लेकर कौन से ऐसे सांस्कृतिक या दार्शनिक प्रश्न रहे हैं, जो निरन्तर कवियों और लेखकों को विचलित करते रहे हैं? और इस प्रश्नाकुलता को लेकर अपनी परम्परा के साथ किस तरह का सम्बन्ध उनकी रचना और रचनात्मक चिन्तना में प्रतिफलित हुआ है? जाहिर है कि अभी तक इस सम्बन्ध में जितना और जिस तरह का विचार-विमर्श हुआ है, वह हमें नाकाफी लगने लगा है। स्वधर्म और कालगति को लेकर, परम्परा और आधुनिकता को लेकर जैसी, जो भी मानसिकता हमारी बनी है, वह हमें आज के हमारे सांस्कृतिक संकट को हल करने में मददगार होती नहीं प्रतीत होती। 'थिंग्ज फाल एपार्ट, दि सेंटर कैन नॉट होल्ड' वाली अराजकता और बिखराव की परिस्थिति चक्रव्यूह में फँसे पा रहे हैं हम खुद को; और इसलिए अपने हाथ से फिसलते जा रहे उस केन्द्र को गहने-थामने की चिन्ता हमें उद्वेलित कर रही है। चूँकि, साहित्य किसी भी देश-काल की मानवीय चेतना की सर्वाधिक समावेशी, संवेदनशील और संकेन्द्रिक गति-विधि है, अंतः हम साहित्य के अंतःसाक्ष्य को उसकी पूरी गोलाई में स्वायत्त-समाकलित करते हुए अपनी सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्परा को नए सिरे से अपने लिए परिभाषित करना चाहते हैं। किन्तु क्या सृजनात्मक साहित्य स्वयं अपने-आप में संस्कृति की पुनः परिभाषा और पुनर्मूल्यांकन का काम नहीं करता आया था? और बगैर व्याख्याता-आलोचक की मध्यस्थता के वह काम क्या सामूहिक धरातल पर हमारी सांस्कृतिक जड़ों को सींचने में, उसे सूखने से बचाने में सफल नहीं हुआ था? तब फिर, आज हम-समकालीन साहित्य की विपुल सक्रियता के बावजूद इस अतिरिक्त जागरूकता की आवश्यकता क्यों महसूस कर रहे हैं? भक्तिकाल ही क्यों, जिसे हम छायावाद काल कहते हैं, उस दौरान भी हमें इस अतिरिक्त जागरूकता की ऐसी जरूरत महसूस नहीं हुई थी। फिर अब क्यों वह जरूरत हमारे सिर पर चढ़के बोलने लगी है? क्या इस बीच हमारा सांस्कृतिक आत्मविश्वास टूट फूट गया है, जिस टूट-फूट की गवाही खुद साहित्य दे रहा है? या, कि वह आत्मविश्वास—खुद संस्कृति अपने-आप में—साहित्य के लिए अप्रासंगिक हो गई है या, कि बना दी गई है?

कवि जयशंकर प्रसाद का वह कथन आज हमारे लिए नए सिरे से विचारणीय और प्रेरक लगने लगा है जिसके अनुसार, ''मिश्रित विचारों के कारण हमारी विचारधारा अव्यवस्था के दलदल में पड़ी रह जाती है; नई चेतना और पाश्चात्य प्रभाव हमारी निरूपायता ही नहीं, अनिवार्यता भी है। पर इस सचेतना के फलस्वरूप हम अपनी सुरुचि की ओर प्रत्यावर्तन क्यों न करें ? हमारे ज्ञान-प्रतीक दुर्बल तो नहीं हैं।'' मैं समझता हूँ कि यह बात आज उन सबके सिर पर चढ़के बोलनी चाहिए जो सच्चे अर्थों में कर्मज्ञ और कालज्ञ संस्कृतिकर्मी हैं, सिर्फ साहित्य की राजनीति ने वाले छायाजीवी ('शैडो माइंड') नहीं। हमें इस तथ्य के प्रति सदैव सजग रहना होगा कि संस्कृतियाँ आत्मावलंबी भी होती हें और अपने ऐतिहासिक विकास-क्रम में पारस्परिक आदान-प्रदान अथवा टकराहट के फलस्वरूप अंतरावलम्बन की ओर अभिमुख भी। परन्तु अंतरावलम्बन की प्रक्रिया के साथ इकतरफा आदान में ढल जाने का खतरा भी लगा रहता है। पराधीनता के दौर में पश्चिम से हमारे सम्बन्ध के दोनों रूप प्रगट हुए। पहले राममोहन राय वाले दौर में आदान वाला और फिर क्रमशः बढ़ते हुए आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता वाला। छायावादी युग में यह दूसरी प्रवृत्ति बलवती हुई। तनिक देखें तो सही कि छायावादोत्तर और दास्योत्तर युग का साहित्य क्या कहता है? उस युग के सर्वाधिक अग्रणी कवि-विचारक अज्ञेय की एक कविता की पंक्तियाँ देखें–

''हरा भरा है देश
रूँधा मिट्टी में ताप
पोसता है विष-वट का मूल
फलेंगे जिसमें शाप।
तपी मिट्टी जो सोख न ले
अरे, क्या इतना है पानी?
कि व्यर्थ है उद्‌बोधन, आह्‌वान
व्यर्थ कवि की बानी?

और, फिर नयी कविता के एक प्रमुख कवि रघुवीर सहाय की पंक्तियाँ...

खण्डन इस देश में
चाहते हैं लोग याकि मण्डन
या फिर अनुवाद लिसलिसाता भक्ति से
स्वाधीन इस देश में डरते हैं लोग
एक स्वाधीन व्यक्ति से''

एक प्रतिकूल सांस्कृतिक परिस्थिति में काम कर रहे होने का दबाव इन सभी कवियों के मन पर है। प्रतिदान रहित आदान किसी देश की संस्कृति के लिए, उसकी रचनात्मक प्रतिभा

के लिए कितना घातक हो सकता है इस खतरे की राष्ट्रकवि गुप्तजी ने बहुत पहले सूँघ लिया था—''है आदान एक अपमान/कर न सकें यदि हम प्रतिदान।'' निराला की कविता भी सांस्कृतिक लयभंग के यथार्थ की यथावत् पहचान कराने के बाद ही 'प्राची-उर में खिंची पुष्कल रवि-रेखा' का आशा-संकेत उभारती है। निराला की कविता में हमें उस 'अकल कला' की सिद्धि का आश्वासन ही नहीं, उस खोज की तपस्या भी दिखाई देती है जो इस 'सकल छिन्न' को जोड़ेगी। वैसा सांस्कृतिक-सर्जनात्मक पुरुषार्थ उन्हें जिस अग्रज कवि में दिखलाई पड़ा, उसी का आवाहन वे अपनी लम्बी कविता 'तुलसीदास' में कर रहे थे। किन्तु, उसके बाद? स्वतंत्रता की दहलीज पर जिस कवि ने 'आलोचक राष्ट्र' के निर्माण का संकल्प उठाया था, उसे अब राजनीतिक पराधीनता से मुक्त और हरित क्रांति की दहलीज पर खड़ा देश हरा-भरा तो दिखाई देता है, पर किस कीमत पर? स्वाधीन भारत में जो संस्कृति पनप रही है, वह क्या वही है जिसके लिए गुप्तजी अथवा निराला-प्रसाद जैसे कवियों ने देशवासियों का उद्‌बोधन-आवाहन किया था? या कवि की बानी व्यर्थ हो गई? 'शस्य श्यामला मिट्टी का रूंधा हुआ ताप' क्या है? और वह 'विष-वट' क्या है, जिसमें शाप फलने वाले हैं? 'सफल आज उसका तप-संयम,' गाने वाले कवि पंत ने जिस 'भारतमाता ग्रामवासिनी' का नया आशावादी संस्करण प्रस्तुत किया था, (पता नहीं क्यों?) क्या वह आशावाद उथला और अनर्गल साबित हुआ अंततः? और उस 'मैला आँचल' की कथा और 'परती परीकथा' हमें अपने कवियों से कहीं अधिक प्रामाणिक-विश्वसीय रूप में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों में क्यों सुनाई देती है? क्या भारत माता सचमुच अब भी अपने ही घर में प्रवासिनी नहीं है? अज्ञेय की कविता का विष-वट भी क्या कहीं यूरोपीय सभ्यता के साथ भारत के सम्बन्ध की वह 'जड़' ही तो नहीं है जो 'हिन्द स्वराज' के गाँधी के मुताबिक 'धर्म-क्षेत्र' में जमनी चाहिए थी और जो वहाँ न जमकर अधर्म के क्षेत्र में जम गई? आखिरकार, शाप फलने की चेतावनी तो हिन्द-स्वराज के लेखक ने भी सदी की शुरुआत में ही दे दी थी—दो-दो अर्थों में। एक तो यह कि, ''गरीब हिन्दुस्तान तो गुलामी से छूट भी जाएगा, लेकिन अनीति से पैसेवाला बना हुआ हिन्दुस्तान गुलामी से कभी नहीं छूटेगा।'' और दूसरा यह कि, ''अंग्रेजी शिक्षा पाए हुए लोगों ने प्रजा को ठगने और परेशान करने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा है।... राष्ट्र की हाय अंग्रेजों पर नहीं, हमीं पर पड़ेगी।'' आज के—ठेठ आज—के परिदृश्य में वह अनीति का नव-धनाढ्य फूहड़पन और वह शाप ही फलीभूत नहीं हो रहा है, यह हम किस मुँह से कहें! 'हिन्द-स्वराज' के साठ बरस बाद हम कवि विपिन अग्रवाल को भी क्या ठीक उसी विडम्बना को रेखांकित करते नहीं देखते? 'आधुनिकता के पहलू' शीर्षक पुस्तक में वे कहते हैं—

''मेरा बाह्य वैचारिक संसार एक धातु का बना हुआ है और आंतरिक भावनात्मक जीवन दूसरे धातु का। मैं जैसे खुद दो हूँ। भाव-विचार पर प्रभाव नहीं डालते और विचार भाव को छूने में डरते हैं। इस पृथकता की जनक दो भाषाएँ हैं—एक हृदय की हिन्दी और दूसरी मस्तिष्क की अंग्रेजी। भारतीय बौद्धिक की अनास्था के पीछे यही रहस्य है।''

क्या यह सच नहीं है? चालीस बरस बाद भी क्या इस वस्तुस्थिति में कोई बड़ा अन्तर आया है? एक ओर हम अनुवादजीवी मानसिकता को, अनुवादजीवी संस्कृति को पालें-पोसें और दूसरी तरफ अपसंस्कृति का रोना रोएँ, यह कब तक चलेगा? अज्ञेय का कथन याद आता है इसी सिलसिले में कि, ''हम हमेशा जो दूसरे की है, उसका पर्याय खोजते हैं और भूल जाते हैं कि हमारी बहुत-सी ऐसी पूँजी है जिसका कोई पर्याय दूसरी संस्कृति के पास नहीं होगा अगर वह अनुवाद करने चले।'' क्या यह भी एक कटु सत्य नहीं कि आज के अधिकांश भारतीय बुद्धिजीवी उस पूँजी पर अपनी पकड़ खो चुके हैं? वह उनके अनुभव-संसार का अंग ही नहीं जैसे। ऐसे में कवि-आलोचक मलयज की उस शंका को भी कैसे अनसुना किया जा सकता है कि, ''एक भारतीयता अब भी एक मूल्य-बोध है, या वह महज एक इतिहास-बोध बनकर रह गई है, जिसका अर्थ सिर्फ हमारी स्मृति में सुरक्षित है?'' प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने 'भारतीय परम्परा के मूल स्वर' नामक अपनी पुस्तक में उस त्रासद विभाजन का उल्लेख किया था जिसके फलस्वरूप अध्यात्मविद्या की पंगुता और भौतिक सभ्यता का अंधापन बढ़ता जाता है। सच पूछा जाए तो देश की वर्तमान दशा कुछ वैसी ही है। जीवन जगत और मनुष्य के बारे में भारतीय मनीषा की जो ज्ञानात्मक उपलब्धियाँ और अनुभवसिद्ध मान्यताएँ रही हैं, उन्हीं को लेकर हमारे बुद्धिजीवियों में सर्वाधिक संशय और हीनभाव देखाई देता है। वह संशय भी उपजाऊ संशय नहीं, बल्कि अपनी ही धार कुंद करनेवाला संशय है। अरसा पहले कृष्णचंद महाचार्य ने (1927 में) वैचारिक स्वराज का सवाल उठाते हुए भारतीय बुद्धिजीवियों को 'शैडो-माइंड' की संज्ञा दी थी। वह छाया-नृत्य अब और भी ज्यादा नंगे और निपट ढंग से उजागर हो रहा है। संस्कृति के मूलाधार से ही विच्छिन्न और बेमेल यह छाया-बुद्धि इसी कारण इस परिवेश में असंगत और अनर्थकारी हो जाती है। यह अकारण नहीं कि हिन्दी के वर्तमान परिवेश में एक जाग्रत, सतर्क और क्रियाशील बौद्धिक वर्ग के अभाव की शिकायत भी सर्वप्रथम अज्ञेय ने ही की थी और उन्हीं का यह निष्कर्ष है, जिससे इस लेख का समापन करना मुझे उपयुक्त लग रहा है, क्योंकि ठेठ आज की हालत यही जान पड़ती है—

''हमारे साहित्य में न तो हमें अपनी अनास्था दिखती है, न अपनी आस्था दिखती है, न अपनी चिंता दिखती है। पश्चिम की चिंता, पश्चिम की अनास्था, पश्चिम का त्रास हमको दिखता है और उस आधार पर हम अपने को आधुनिक मानते हैं। हमारी क्या चिंता होनी चाहिए, इसकी भी कोई चिंता हमको नहीं है।''

ऐसा नहीं, कि इस सांस्कृतिक लयभंग की वस्तुस्थित की सही समझ रखनेवाले और उसके सम्यक् प्रतिकार की भी पहल कर सकने वाले बौद्धिक और रचनाकर्मी हमारे बीच नहीं हैं। किन्तु विडम्बना यह है कि इस भोंथरे बना दिये गए परिवेश में उनकी भी आवाज ही मानो गुम हो गई है या करवा दी गई है। उन्हें अपनी आवाज का भरोसा है मगर उसे प्रभावकारी ढंग

से अपने लोगों तक पहुँचा सकने वाले साधनों पर उनकी पकड़ नहीं। उनका संस्कार तथा जीवन-दर्शन उन्हें उनका सत्ताकारी प्रचारवादी रणनीतिज्ञों से उन्हीं के मुहावरे और उन्हीं के तरीकों से निबटने के लिए तैयार नहीं करता, जो इस देश की सांस्कृतिक रीढ़ से ही घुन की तरह चिपटे हुए हैं। संस्कृति के सबसे महत्त्वपूर्ण उपादानों—भाषा और शिक्षा—की आत्महीन अवहेलना और अवमूल्यन के चलते तथाकथित शिक्षित वर्ग और किसी तरह रूढ़ि-पालन के स्तर पर अपनी संस्कृति को जीते चले आ रहे सामान्यजन भी हर तरह के अनिष्ट संक्रामकों के सामने अधिकाधिक वेध्य और प्रतिरोधविहीन बनते दिखाई दे रहे हैं। विकार की जड़ तक पहुँचे बिना प्रतिकार की हर चेष्टा व्यर्थ है। 'विकास परमार्थतोज्ञात्वानारंभः प्रतीकारस्य'—कालिदास की उक्ति याद आती है। लक्षणों को दबाने से कुछ नहीं होगा। जड़ की चिंता करनी होगी —सकर्मक चिंता। और वह भी राज की नहीं, समाज की अपनी स्वतःप्रेरित पहल के बूते।

एम-4, निराला नगर
भदभदा रोड, भोपाल
मध्यप्रदेश-462003

नागपुर में मुक्तिबोध : कविता में राजनीतिक स्वरों की पहचान

–कांतिकुमार जैन

1949 के प्रारंभ में मुक्तिबोध जबलपुर से नागपुर न आए होते तो स्वयं उनका जीवन और हिन्दी कविता का रूप दूसरा ही होता। 1948 में मुक्तिबोध जबलपुर में थे, जबलपुर आए उनको दो साल हो रहे थे। वहाँ वे डी.एन. जैन हाई स्कूल में मास्टरी का काम करते थे। अपनी मास्टरी से वे संतुष्ट नहीं थे। जिस स्कूल में वे थे, वह उन्हीं के शब्दों में 'बेहद सड़ियल था।' तन्ख्वाह बहुत कम थी, वह भी समय पर न मिलती थी। वहां के साहित्यिक वातावरण में वे स्वयं को 'मिसफिट' अनुभव करते थे। वे अभी बी.ए. थे। खाने-कमाने की 'फिजूलियात' से ही फुर्सत नहीं थी। वे बहुत कुछ करना चाहते थे, पर दम भरने का वक्त तो मिले? सबेरे उठते ही वे हाड़तोड़ कामों में जुट जाते। सबेरे तोताछाप बुकनी वाली कड़क चाय पीते, अपनी टूटी हुई साइकिल उठाते और 'न्यू एज़' की प्रतियाँ ग्राहकों के यहाँ पहुँचाने की मुहिम पर निकल पड़ते। ग्राहक कौन उनके घर के आसपास ही रहते? साइकिल भी कैसी ? सीट का कवर उखड़ा हुआ, पैडल के नाम पर केवल पैडल का ढाँचा। 'न्यू एज़' के वितरण से मास्टरी से मिलने वाली तन्ख्वाह के अलावा थोड़ी बहुत ऊपरी आमदानी का जुगाड़ हो जाता। तंग दस्ती। मानसिक रूप से वे बेहद बेचैनी का अनुभव करते, शारीरिक रूप से कमजोरी का। सबेरे की कड़क चाय 10 बजते-बजते पेट में ठंडी हो जाती। स्कूल पहुँचने का वक्त हो जाता, 'न्यू एज़' बाँटकर घर पहुँचते समय रास्ते में कॉलेज जाने वाले प्रोफेसर मिलते, सूट-बूट-टाई या जोधपुरी में। अंचलजी के कॉलेज का रास्ता मुक्तिबोध के मुहल्ले से जाता। वही सीता का मायका, वही रावण की गैल, अंचलजी टूटी हुई साइकिल पर फटे पाँयचों वाले मुक्तिबोध को देखते तो टिप्पणी करते-ये देखो, हिन्दी का एजरा पाउंड जा रहा है।

अंचलजी मुक्तिबोध को कोई दर्जा देने को तैयार नहीं थे। मुक्तिबोध 'तार सप्तक' के पहले कवि थे, पर उससे क्या हुआ? तुम न कॉलेज में हो, न किसी अखबार में। नगर सेठ गोविंद दास की हवेली में भी तुम्हें कभी नहीं देखा। मकान भी तुम्हारा वहाँ है ? आवजर्वेट्री रोड पर। जहां सुभद्रा कुमारी चौहान रहती, उसके पिछवाड़े। उनके घर के पहले मौसम कार्यालय था, एक-दो मंजिला इमारत। दूसरी मंजिल पर एक मुर्गा बना था। हवा चलती तो मुर्गा घूमता। उत्तर, दक्षिण, पूरब, पश्चिम। मुक्तिबोध चाहते थे कि मुर्गा सदैव बायीं दिशा बतलाए पर वह कमबख्त कभी दक्षिण का रूख करता, कभी पश्चिम का। क्या उनका 'न्यू एज़' बाँटना निरर्थक

हो रहा है? स्कूल पहुँचने में देर हो रही है। किसी तरह खाना गुटको, सिरहाने के नीचे से तह किया पैजामा निकालो, उस पर खूंटी पर टंगा कुर्ता डालो और सँकरी गली से डी.एन. जैन स्कूल निकल लो। रास्ता कच्चा, ऊबड़-खाबड़। ऑवजर्वेटरी रोड पर रहना मुक्तिबोध जी का चुनाव नहीं, लाचारी थी। कच्चा मकान, अभावग्रस्तों का मुहल्ला, पानी के लिए चौरस्ते पर नल, पर किराया कम था। स्कूल भी पास था, पैदल स्कूल पहुँचने में पाँच मिनिट लगते। वे अपनी साहित्यिक अकर्मण्यता से ऊब अनुभव कर रहे थे। जबलपुर के साहित्यकारों के व्यवहार से उनके भीतर एक ग्रंथि बन गई थी। जबलपुर से वे इतने ऊबे हुए थे कि किसी भी अन्य नगर जाने के लिए छटपटा रहे थे। उनके मित्र समझाते कि आप यहाँ सेटल हैं, बाहर जाकर नई कठिनाइयों का सामना करना पढ़ेगा, पर इस तर्क से वे पराभूत नहीं होते। कहते भाड़ में भी कुछ ताजगी तो होगी। मैं भाड़ में भी जाने को तैयार हूँ। इसी भाड़ की खोज में वे कभी उज्जैन की नौकरी के लिए आवेदन भेजते, कभी बनारस की प्रेस में मैनेजरी के लिए लिखा-पढ़ी करते। अमृत राय 'हंस' के लिए एक सहायक चाहते थे, वे मोहन सिंह सेंगर को बुला चुके थे, पर सेंगर नहीं गए। उन्होंने नरोत्तम नागर को भी बुलाने की सोची थी। अमृत जी ने मुक्तिबोध को लिखा, 'नागर को भी काम की सख्त जरूरत है, मगर तुमको भी तो है। पर आने की सबसे बड़ी शर्त यह होगी कि काम के समय हमारे संबंध स्ट्रिक्टली बिजनेस लाइक हों, मैं इस शर्त पर इसलिए जोर दे रहा हूँ कि दोस्ती पर आँच न आए। ऐसी स्थिति में जब दोस्त ही एम्प्लायर हो, इस तरह की साफगोई कुछ कटु भी लग सकती है पर अभी तुम बच्चे ही हो।'' 47 में मुक्तिबोध बच्चे नहीं रह गए थे। घाट-घाट का पानी पी चुके थे। दोस्त जब मालिक बन जाए तब वह दुलत्ती नहीं झाड़ेगा, इसका क्या भरोसा ? वे बनारस नहीं गए। चलो, नागपुर के तिवारी जी को लिखते हैं। उन्होंने 28.06.1948 को 550, ऑब्जर्वेटरी रोड, राइट टाउन, जबलपुर से मॉरिस कॉलेज, नागपुर के हिन्दी प्राध्यापक पं. शुकदेव प्रसाद तिवारी को एक पत्र लिखा। मुक्तिबोध जी की सन् 1948 की मानसिक, शारीरिक, आर्थिक और साहित्यिक हालात को जानने के लिए यह पत्र बहुत काम का है। मुक्तिबोध ने लिखा—

आदरणीय तिवारी जी

आशा है आप प्रसन्न होंगे और आपका स्वास्थ्य ठीक होगा। इधर कई दिनों से मैं सोच रहा था कि आपसे मिलूँ पर अवसर न आया। आज पत्र लिख रहा हूँ। अत्यंत संकोच का अनुभव करते हुए ही यह साहस कर रहा हूँ।

मैं जबलपुर में करीबन दो साल से हूँ। जिस हाई स्कूल में हूँ वह बेहद सड़ियल है। तन्ख्वाह बहुत कम होते हुए भी कभी समय से न मिल पाई। ऐसी फिजुलियात में पड़ा हुआ हूँ कि कुछ लिख-पढ़ नहीं पाता। इस साल मैं हिन्दी से एम.ए. की भी तैयारी कर रहा हूँ।

यदि आप मुझे नागपुर में किसी अच्छी नौकरी में बुला सकें। शायद रेडियों भी वहाँ खुल रहा है। स्पेशल एजुकेशन में भी, सुना, जगह खाली है। मैं इस प्रांत में बिल्कुल नया हूँ। साधारणतः यहाँ के लोगों से जान-पहचान भी अल्प है। इसलिए कोई ''सिप्पा'' नहीं भिड़ा सकता। दूसरे, स्वभाव ऐसा है कि इस प्रकार की चीजें कर नहीं पाता। यदि आपकी सुविधा के अनुकूल हो तो मुझे कहाँ, कैसे और क्या करना चाहिए-कौन-सी नौकरी के लिए एप्लीकेशन डालनी चाहिए, यह बतलाएँ। अत्यंत कृतज्ञ रहूंगा।

अपनी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद मेरी पढ़ाई-लिखाई चालू रहती है किन्तु यदि थोड़ा-सा भी विश्राम और अवकाश मिलेगा तो कुछ कर सकूंगा, यह सोचता हूँ।

मेरे दुस्साहस के लिए क्षमा करें और कम-से-कम इस पत्र का उत्तर तो दें ही। किसी अन्य धर्म संकट में आपको डालना नहीं चाहता, केवल इस पत्र के धर्म संकट के। आशा है, आप मुझे अवश्य पत्र लिखेंगे।

सस्नेह आपका
गजानन माधव मुक्तिबोध

तिवारी जी ने अपनी आदत के अनुसार मुक्तिबोध को तत्काल पत्र लिखा। अपनी लगभग अपाठ्य लिखावट में। बताया, कहाँ, कैसे और क्या करना है।

मुक्तिबोध नागपुर आ गए। 1949 में नागपुर आने पर काफी अर्से तक मुक्तिबोध इलाहाबाद, बनारस और फिर जबलपुर के अपने अनुभवों के कारण बेहद आशंकाग्रस्त रहते थे। उन्हें हवा में तलवारें दिखाई देतीं। रात को सपने में मोटी-मोटी छिपकलियां उनके ऊपर गिरतीं, वे पसीने-पसीने हो जाते। यदि कोई आदमी उनके पीछे आ रहा होता तो उन्हें लगता कि वह सीआईडी का आदमी है और उनकी जासूसी के इरादे से उनका पीछा कर रहा है। कहते, साले, सरकारी कुत्ते। 'परसीक्यूशन मेनिया' शायद इसी को कहते हैं। नागपुर में काफी दिनों तक जिन्दगी इसी मेनिया बीच गुजारी। यह निम्न वर्ग का मुहल्ला था। उन दिनों इस मुहल्ले में एक तालाब था जिसे इन दिनों जुम्मा टैंक कहते है। शुक्रवारी तालाब। इस तालाब के चारों और सीढियाँ थीं। आप सीढ़ियों पर बैठ जाइए, आपके पाँव पानी को छूने लगेंगे। जुम्मा टैंक की सीढ़ियाँ नागपुर में नए-नए आए मुक्तिबोध का प्रिय स्थान था। वे रात देर तक इन सीढ़ियों पर बैठे रहते, कभी अकेले, कभी मित्रों के साथ। इन सीढ़ियों पर बैठने वालों में 'विद्रोही' उनके अनन्य सहचर थे। 'विद्रोही' जी मुक्तिबोध को महागुरु कहते। नागपुर ने मुक्तिबोध के अस्तित्व पर छाई हुई असुरक्षा, आशंका और अविश्वास की धुंध को छाँटने का काम किया, पर इसमें काफी समय लगा। असुरक्षा, आशंका और आतंक के भूत को झाड़ने के लिए किसी ओझा, किसी औलिया की दरकार थी।

जीवन लाल वर्मा 'विद्रोही' ऐसे ही औलिया थे। जबलपुर से डरा-डरा, सहमा-सहमा जो गजानन नागपुर आया था, उसे भारतीय राजनीति के चाणक्य पं. द्वारका प्रसाद मिश्र के रू-ब-रू बैठकर अंतरराष्ट्रीय राजनीति पर बहस करने लायक नागपुर के जिन मित्रों ने बनाया, उनमें 'विद्रोही' अव्वल थे, 'विद्रोही' की देखादेखी मित्र-मंडली के अन्य सदस्यों ने भी मुक्तिबोध को महागुरु कहना शुरू किया। मुक्तिबोध के वैचारिक सहचरों की एक किचन कैबिनेट थी जिसका परिचय 'विद्रोही' के शब्दों में–

कार्य हमारे अलग-अलग थे पर सबका कटेंट एक था,
एक धोती थी, एक लंगोटा, एक पायजामा, एक पैंट था।
स्वामी जी का मुंड मुडा था, फिलास्फर के बाल बढ़े थे।
अप-टू-डेट था हिन्दी का कवि, मेरे सब फीचर बिगड़े थे।

होली की इस चिट्ठी में मुक्तिबोध के नागपुर में अंतरंग-चतुरंग को पहचानना कठिन नहीं है। पायजामा पहनने वाले, बड़े बालों वाले फिलास्फर-स्वयं मुक्तिबोध थे। महागुरु। बिगड़े फीचर वाले खलीफा 'विद्रोही' हैं। महागुरु के महाचेले। पेंट पहनने वाला 'अप-टू-डेट' हिन्दी कवि रामकृष्ण श्रीवास्तव थे और धोतीधारी मुंडित मस्तक स्वामी थे कृष्णानंद 'सोख्ता'। 'सोख्ता जी के नए खून' में ये सब घनघोर 'घोस्ट राइटिंग कर'। ये वे दिन थे जब, जैसा कि प्रमोद वर्मा ने लिखा है, 'दोस्त मुक्तिबोध की अहम जरूरत थे। इन दोस्तों का साहचर्य मुक्तिबोध को भावदीप्त करता, विचारदीप्त और रचनादीप्त भी। मुक्तिबोध ने अपनी मंडली के हर मित्र को कोई न कोई नाम दे रखा था 'सोख्ता' जी धोती थे, अनिल कुमार अपने घुँघराले पंत नुमा लंबे वालों के कारण 'लट्ेश' जी। प्रमोद सदा बौद्धिक बने रहते अतः वे आचार्य शंकुक थे। रामा सदा सूट-बूट-टाई में रहते और मंडली के 'पोयट' थे। शिव कुमार श्रीवास्तव प्यारे भाई थे। श्रीकांत वर्मा छोटे गुरु जी थे। हरिकुर भूदानी। विद्रोही के महा चेले का रुतबा हासिल था। विद्रोही भांग के शौकीन थे, खुद को भंगी कहते। जो उनके साथ भंगी होना चाहता था, भंग का गोला तोड़ लेता। मुक्तिबोध नशा-पानी से दूर रहते थे। एक बार श्रीकांत वर्मा ने गोला चढ़ाया तो उनकी हालत खराब हो गई। वे नाचने लगे, अपने स्वभाव के खिलाफ चहकने लगे। मुक्तिबोध जी को जब श्रीकांत के नशे की बात मालूम हुई तो वे 'विद्रोही' पर बहुत बिगड़े। साहब, गलत बात है कोई पीता नहीं तो क्या आप उसे जबरिया पिलाएंगे। 'विद्रोही' ने बात साफ की। यहाँ जबरदस्ती नहीं होती। किसी को अगर नहीं चलती तो उसको हाथ नहीं बढ़ाना चाहिए। श्रीकांत ने खुद हाथ बढ़ाकर यहाँ का गोला तोड़ा था।

मुक्तिबोध को संतोष था कि उनका साहित्यिक जीवन बिल्कुल परती नहीं है। वे जीवन के प्रश्नों से जूझ रहे हैं। उन्हें कलात्मक रूपों में ढाल रहे हैं। वे 'कामायनी' एक पुनर्विचार का अंतिम प्रारूप तैयार कर चुके थे। 'एक साहित्यिक की डायरी' के प्रश्नों पर रात भर जुम्मा टैंक

की सीढ़ियों पर बैठकर, हाथ और पैरों का एगजिमा खुजलाते हुए, मंथन कर रहे थे, 'नया खून' के लिए यौगंधरायण और अवंतिलाल गुप्त के नाम से दुनिया-जहान के विषयों पर लंबे उत्तेजक लेख लिख रहे थे, अपनी लंबी कविताएँ रच रहे थे, टीन के बक्से में बंद अपनी अधूरी कविताओं को पूरा करने में जुटे थे।

मुक्तिबोध को नागपुर आते ही जूनी शुक्रवारी की जौहरी गली में एक पुरानी खोली मिल गई। पलस्तर उखड़ी हुईं दीवारों वाला, बिना नल वाली। मुक्तिबोध को जो मकान मिला वह टूटी लकड़ियों की छत वाली कुबड़ी बैठक के बीच में एक अनगढ़े खंभे पर टिका था। फर्श कच्चा है, उसे गोबर से लीपना पड़ता है। बीचोबीच खजूर की चटाई बिछी रहती। इस चटाई पर ढक्खनदार फर्शी टेबल होती। मुक्तिबोध का ड्राइंग रूम, स्टडी रूम। इसी चटाई पर मुक्तिबोध पालथी मारकर बैठते, टेबल पर ताव के लंबे कागजों पर कभी न खत्म होने वाली कविताएं लिखी जा रही हैं। लंबे, बड़े, पतले अक्षरों में। घर में नल नहीं था, पानी कहाँ से आए? प्रायः रोज ही अँधेरा हो जाने पर मुक्तिबोध तीन-चार घर छोड़कर एक कुएं से घड़े भर-भरकर पानी लाते। दोनों हाथों में घड़े हैं, अँधेरे में ठोकर न लग जाए इसलिए किसी का साथ होना जरूरी है। प्रसिद्ध कवि नरेश मेहता साथ हैं लालटेन थामे हुए। जब घड़ों को और कंधे पर पड़ी लेज को थामना कठिन हो जाता तो नरेश जी सहायता करते। पार्टनर, घड़े तुम संभालों, कंधे की रस्सी मुझे दो। गली पतली थी, ऊबड-खाबड़। सौ-पचास गज की दूरी पर एक कोने में एक छोटा-सा कुआँ था, कुएँ पर साधारण-सा रहट था। कुएं के वृत्त में पीपल लगे होते। लालटेन की रोशनी में वे पीपल बड़े दिखते जैसे बता रहे हों कि हम हमेशा से यहाँ थे, इसी प्रकार बड़े। मुक्तिबोध की कविता में पीपल और बरगद की जो छायाएँ मंडराती हुई दिखाई देती है, वे शायद इन्हीं की स्मृतियाँ हों। लालटेन की 'रोशनी पीपल के पौधों पर अटक जाती। नीचे जल में उतराते हुए घड़े अभी पानी में डूबे भी हैं या नहीं, ठीक-ठाक पता नहीं चलता। जब काफी देर हो जाती तो नरेश जी को कहना पड़ता, रस्सी खींचो, घड़ा अब तक भर गया होगा। मुक्तिबोध पानी भर रहे हो या और भी कुछ कर रहे हो, उनकी कविता के आदिम बिंब बराबर उनके साथ बने रहते।

मुक्तिबोध घड़े थामे हुए हैं, नरेश मेहता उन्हें रोशनी दिखा रहे हैं, यह बात मुक्तिबोध को नागवार गुजरती। नरेश मेहता रेडियो में उच्च अधिकारी होकर इलाहाबाद से नागपुर आए हैं, यह बात मुक्तिबोध को पटती नहीं थी। नरेश मेहता 'दूसरा सप्तक' के कवि और मुक्तिबोध 'तारसप्तक' के पहले कवि।

'दूसरा सप्तक' छप चुका था। मुक्तिबोध को यह देखकर हैरानी हो रही थी कि नई कविता के नाम से प्रस्तुत छठे दशक की हिन्दी कविता 'तार सप्तक' के मूलतः वामपंथी रूझान को छाँट-तराश कर कोरमकोर सौंदर्यपरक बनती जा रही है। प्रसिद्ध कवि और मुक्तिबोध के

अनन्य मित्र प्रमोद वर्मा ने ''गजानन माधव मुक्तिबोध'' नामक अपने विनिबंध में लिखा है कि ''ऐसा तो छायावाद के जमाने में भी नहीं हुआ था। तो क्या यह सब उनके नव स्वाधीन देश का अंतरराष्ट्रीय पूंजीवाद की गिरफ्त में रहे चले आने के लिए किया जा रहा है। उन्हें लगा कि लड़ाई मात्र कला मूल्यों की नहीं है। इस परिवर्तित रूझान को राजनीतिक शीत युद्ध की साहित्यिक शाखा नाम देते हुए विरोधियों से जूझने के लिए मुक्तिबोध खुले मैदान में उतर आए। एकदम नए और अपरिचित कवियों के अटपटे किंतु तेजस्वी स्वर उनके आसपास हवा में लहरा रहे थे। जिससे इनकी यह धारणा और पुष्ट हुई कि प्रगतिशील कविता मरी नहीं है, सिर्फ भूमिस्थ है। इन कवियों से हिन्दी संसार को परिचित कराने के ख्याल से उन्होंने ''नर्मदा की सुबह'' नाम से एक कविता संकलन प्रकाशित करने की योजना बनाई थी।''

ये वे दिन थे जब मुक्तिबोध हिन्दी कविता में राजनीतिक स्वरों की पहचान कर रहे थे और उन कवियों को रेखांकित कर रहे थे जिनकी कविता में राजनीतिक स्वर प्रच्छन्न अथवा प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान थे। अपने स्वयं के काव्य में विद्यमान राजनीतिक स्वरों से वे अनभिज्ञ नहीं थे पर अभी तक इस स्वर को नाम नहीं दिया गया था। 17.08.1959 को उन्होंने श्रीकांत वर्मा को लिखे पत्र में इस बात पर गहरा संतोष व्यक्त किया है।

''राजनीतिक स्वर जो प्रच्छन्न रूप से मेरे काव्य में विद्यमान रहता है, आपने पहचाना वह स्वर वस्तुतः एक महत्त्वपूर्ण किंतु गोपनीय विशेषता है जो मेरे काव्य को रूप देता रहा है।'' स्वयं मुक्तिबोध अपने मित्रों की कविताओं में इन स्वरों की तलाश करते रहते थे और जिन कवियों में यह स्वर दिखता था, उनको पत्र द्वारा अपने विचारों से अवगत कराते थे। 01.02. 1958 को वे श्रीकांत वर्मा को लिख चुके थे, ''न केवल मुझे आपकी कविताएँ पसंद हैं वरन उनमें एक मिलिटेंट क्वालिटी है। शिव कुमार श्रीवास्तव के काव्य में उन्हें यह राजनीतिक स्वर प्रच्छन्न और प्रत्यक्ष भी, बराबर आकर्षित कर रहा था। वास्तव में मुक्तिबोध इस धारणा के कायल थे, ''राजनीति साहित्य से अलग नहीं जा सकती।'' नई कविता में जिस प्रकार राजनीतिक स्वर वाली कविता को पीछे धकेला जा रहा था, उससे वे दुःखी थे। मुक्तिबोध पर एम.आर.ए. वाले तो आक्रमण कर ही रहे थे, हमारे सौष्ठववादी आलोचक भी उन्हें कोई भाव नहीं दे रहे थे। विश्वंभरनाथ उपाध्याय हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों में काफी ऊँचे पायदान पर स्थान रखते थे। उनके लेखे मुक्तिबोध गजा है, शायद गधा। डॉ. रामविलास शर्मा मुक्तिबोध की फेंटैसी को डिस्पेप्सिया की उपज मानते थे।

मुक्तिबोध की पब्लिक रिलेशनिंग अच्छी नहीं थी, वे अच्छे संगठनकर्ता भी नहीं थे। उनके पास न तो किसी धनपति का संरक्षण था, न ही कोई प्रकाशक। उनकी अपनी कविता पुस्तक भी उनके जीवनकाल में नहीं निकल पाई। वे ''नर्मदा की सुबह'' निकालना चाहते थे पर चाहने भर से क्या होता है? ''नर्मदा की सुबह'' निकल सकी होती तो हिन्दी कविता का

इतिहास दूसरा होता। वे 'अज्ञेय' नहीं थे। सप्तकों के माध्यम से 'अज्ञेय' ने स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी काव्य को ''हाइजैक'' कर लिया और उसे सौंदर्य और सौष्ठव की ओर 'टिल्ट' कर दिया पर मुक्तिबोध अपने मोर्चे पर सामाजिक प्रगतिशील कविता के लिए निरंतर संघर्षरत रहे।

15.09.1960 को लोलार्क कुंड, अदोनी, वाराणसी से डॉ. नामवर सिंह ने आदरणीय भाई मुक्तिबोध जी को लिखा, ''मुझे बार-बार लगता है कि 'अज्ञेय' के नेतृत्व ने 'तार सप्तक' के विराट काव्यांदोलन को आगे गलत दिशा में मोड़ दिया, फलस्वरूप प्रारंभिक प्रयोगों के जीवंत तत्व, क्रमशः उपेक्षित होकर बैक ग्राउंड में चले गए। तत्कालीन प्रगतिशील आंदोलन की कम निगाही कहिए कि उससे भी उस जीवंत प्रवृत्ति को प्रोत्साहन या मार्गदर्शन नहीं मिल सका। जो हो, अब वह समय आ गया है कि पूरी बात सामने रखी जाए क्योंकि नई पीढ़ी ने अज्ञेय वाली प्रवृत्ति को दरकिनार करके नए स्रोतों की खोज शुरू कर दी है। मैं तो खैर लिखूंगा ही लेकिन क्या आपके लिए यह संभव नहीं है? मेरी राय यह है कि मुझे उस संक्रांति काल का प्रत्यक्ष प्रच्छन्न अनुभव नहीं है। आप उस इतिहास के निर्माताओं में हैं।' यह इतिहास, कहना न होगा, 'नर्मदा की सुबह' के माध्यम से लिखा जा रहा था जिसे 'अज्ञेय' ने हाइजैक कर लिया। 'तार सप्तक' के मूलतः वामपंथी रूझान को नई कविता के नाम से प्रस्तुत कर छठे दशक की कविता कोरमकोर सौंदर्यपरक बनायी जा रही थी। 'नर्मदा की सुबह' इस सौंदर्यपरकता वाले रूझान को रोकने का प्रयास था। बीच में मुक्तिबोध जी के सुपुत्र श्री रमेश मुक्तिबोध ने मुझे सूचना दी थी कि वे ''नर्मदा की सुबह'' का प्रकाशन करना चाहते हैं। पता नहीं उस विचार का क्या हुआ?

विद्यापुरम्
मकरोनिया कैम्प, सागर, मध्य प्रदेश
दूरभाष - 07582-262354
मो- 9098571616

हिन्दी की समस्याएँ

—नगेन्द्र

सहृदय साहित्यिक बन्धुओं !

अपने सत्रहवें वार्षिकोत्सव की अध्यक्षता के लिए आमंत्रित कर परिषद् ने मुझे जो गौरव प्रदान किया है, उसके लिए मैं संचालक-मण्डल तथा विद्वान् निदेशक महोदय का हृदय से आभारी हूँ। राष्ट्रभाषा तथा उसके साहित्य के प्रचार एवं संवर्धन की दृष्टि हिन्दी-भाषी प्रदेशों में बिहार का अन्यतम स्थान है। जहाँ हिन्दी का हृदय-केन्द्र राज्य अभी तक राजभाषा के प्रचार-प्रसार के उपायों पर विचार-विमर्श ही कर रहा है, वहाँ बिहार शासन ने वर्षों पहले निर्विकल्प भाव से इस विषय में आदेश जारी कर दिये हैं और—यह निर्विकल्प दृष्टिकोण ही वस्तुतः हमारी समस्या का सबसे अधिक प्रभावी समाधान है। जहाँ तक मेरा अनुमान है, हिन्दी के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा उसकी वैकल्पिक मान्यता ही रही है। जीवन की सुविधा के लिए विकल्प अनिवार्य है—व्यक्ति के जीवन के लिए और सार्वजनिक जीवन के लिए भी; परन्तु एक सीमा के बाद, विकल्प मेघा के आलस्य का कारण बनकर निर्णय-शक्ति को कुंठित कर देता है। ऐसी स्थिति में वह जीवन की बाधा बन जाता है। हिन्दी के संदर्भ में आज राष्ट्र के सम्मुख यही बाधा नानारूप घर कर खड़ी हुई है। इस बाधा का अंत करने के लिए उसके मूल कारण 'विकल्प' का अंत करना होगा। मैं यहाँ जोर-जबर्दस्ती की सिफ़ारिश नहीं कर रहा—वह लोकतंत्र के लिए उचित नहीं है, पर जो लोकहित में करणीय है और संभाव्य भी, उसमें विकल्प क्यों हो? एक बार अनाविल दृष्टि से विचार कर लिया जाए और जहाँ विकल्प के लिए अवकाश नहीं है, वहाँ उसे खत्म कर दिया जाए। बिहार तथा अन्य राज्यों के जिन दूरदर्शी नेताओं ने यह साहसिक क़दम उठाया है, वे हमारे साधुवाद के पात्र हैं। राज्य का प्रतिनिधि भाषा-केन्द्र होने के नाते बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का यह दायित्व हो जाता है कि इस पुण्य संकल्प की पूर्ति में अपने समस्त साधनों के द्वारा अनथक सहयोग देने के लिए कटिबद्ध हो जाए। मैं इस अवसर पर अतीत की उपलब्धियों का स्तवन न कर उसे अपने तात्कालिक कर्तव्य की ओर प्रेरित करना ही अधिक श्रेयस्कर मानता हूँ क्योंकि सिद्ध का अनुचिंतन करने की अपेक्षा साध्य की ओर बढ़ने का उत्साह अधिक आनन्दप्रद होता है।

मेरे साथ कठिनाई यह है कि निश्चित प्रतिपाद्य के अविर्भाव में सर्वतोमुखी बाग्धारा प्रवाहित कर देना मेरे लिए संभव नहीं होता। जब कभी किसी संस्था की ओर से सार्वजनिक

मंच के भाषण देने का आमंत्रण मिलता है, मेरे सामने विषय की समस्या उठ खड़ी होती है और अपनी ओर से एक-दो ज्वलंत प्रश्नों को लक्षित कर, विचार व्यक्त करने में मुझे सुविधा रहती है। हिन्दी भाषा तथा साहित्य से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ आज हमारे सामने हैंः जैसे भाषा के क्षेत्र में—हिन्दी के व्यापक स्वरूप की संरक्षा का प्रश्न, भाषा के रूप में हिन्दी की शिक्षा की व्यवस्था, माध्यम-परिवर्तन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त ग्रंथ-निर्माण आदि की समस्या;—साहित्य के क्षेत्र में—मूल्यों का विघटन और उसके परिणाम, नयी-पुरानी पीढ़ी के बीच बढ़ती हुई खाई, तेजी से बदलते परिवेश के साथ साहित्य के समाकलन की समस्या—और शिक्षा के क्षेत्र में वर्तमान जीवन के अनुरूप पाठ्यक्रम के पुनर्मूल्यांकन था, पुनर्निर्माण की समस्या—आदि।

इन विषयों पर मैं कुछ अन्य साहित्यिक मंचों से अपने विचार व्यक्त कर चुका हूँ जिनकी पुनरावृत्ति न आवश्यक है और न उचित ही। इस अवसर पर मैं हिन्दी भाषा और साहित्य की कतिपय तात्कालिक आवश्यकताओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

हिन्दी भाषा की आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि शिक्षा और राजकाज के माध्यम के रूप में उसे अधिकाधिक समर्थ एवं सम्पन्न बनाया जाए जिससे स्तर का ह्रास किये बिना राष्ट्रीय गौरव के अनुरूप उसका प्रयोग निर्बाध रूप से किया जा सके। यह एक विराट् राष्ट्रीय अनुष्ठान है, जिसमें हिन्दी की संस्थाओं को योजनाबद्ध रूप से अंशदान करना चाहिए। राजकीय क्षेत्रों में आज भारी हलचल मची हुई है और प्रत्येक दल जनता के परितोष के लिए व्यग्र है। किन्तु जनता का परितोष सिर्फ़ रोटी-कपड़े से नहीं हो सकता, उसे अपनी भाषा भी चाहिए, जिसके माध्यम से वह अपनी संतान को शिक्षा दे सके, जीविका का अर्जन कर सके और अपने अधिकारों के लिए न्याय मांग सके। यह कार्य आरंभ हो चुका है, लेकिन जिस गति से आगे बढ़ना चाहिए, उस गति से आगे नहीं बढ़ रहा। शिक्षा और प्रशासन के तंत्र में आज जो लोग काम कर रहे हैं, उन्हें सामान्यतः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : पहले वर्ग में वे लोग आते हैं, जिनमें हिन्दी के माध्यम से कार्य करने की क्षमता है और जो अब तक वांछित दक्षता भी प्राप्त कर चुके हैं। दूसरा वर्ग ऐसे लोगों का है, जिन्हें भाषा का पर्याप्त ज्ञान है और उसका प्रयोग करने की इच्छा भी जिनके मन में है, परन्तु अभ्यास के अभाव में जिनमें आत्म-विश्वास अभी तक नहीं जग सका। तीसरे वर्ग में वे हैं, जो अनेक प्रकार की परिसीमाओं के कारण इस दिशा में आगे बढ़ने में वास्तविक कठिनाई का अनुभव करते हैं। तीसरे वर्ग के साथ हमें सहानुभूति और विवेक से व्यवहार करना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों की सुविधा के लिए हिन्दी-सहायकों की व्यवस्था करनी होगी। कुल मिलाकर पूरा ध्यान हमें दूसरे वर्ग के लोगों पर ही देना चाहिए, जिनका शायद बहुमत है : जो भाषा जानते हैं पर अनभ्यासवश उसके व्यवहार से झिझकते हैं। इनके लिए अभ्यास-केन्द्र, संगोष्ठियाँ, पुनश्चर्या-क्रम तथा आवश्यकता के

अनुसार पूर्णकालिक गहन पाठ्यक्रम की व्यवस्था व्यापक स्तर पर होनी चाहिए। व्यवस्थित रूप से और सच्चे इरादे से काम शुरू होने पर एक वर्ष के भीतर कम से कम आधे देश का नक़्शा बदल जाएगा और तब शेष के लिए कोई विकल्प नहीं होगा। यह काम बिलकुल कठिन नहीं है, लेकिन सच्चे मन से अभी यह शुरू ही नहीं किया गया। इस समय हर छोटे-बड़े नगर में विद्यालय और महाविद्यालय हैं, जहाँ प्रशासनिक कर्मचारियों के लिए इस प्रकार के अभ्यास की व्यवस्था की जा सकती है। अब रह गया पहला वर्ग जो हिन्दी के प्रयोग में समर्थ भी है और दक्ष भी। इस वर्ग का प्रमुख दायित्व यह है कि वह अपनी योग्यता से प्रतिद्वन्द्वी भाषा के महारथियों को निष्प्रभ कर दे—यह सिद्ध कर दे कि हिन्दी में प्रशासनिक कार्य करना अधिक सार्थक हैः उसमें श्रम व समय दोनों की बचत होती है, भ्रान्ति के लिए अवकाश प्रायः नहीं रहता, जानबूझकर गलत अर्थ लगाने की सुविधा कम और जनता के साथ सीधा संपर्क करने की क्षमता अधिक है। इस प्रकार का कार्यक्रम लोकतंत्र की सफलता के लिए सर्वथा अनिवार्य है। सच्चा लोकतंत्र यही है कि समाज के व्यापक हित के लिए व्यक्ति या व्यक्तियों के वर्ग के संकुचित स्वार्थ का उत्सर्ग किया जाए। समाजवाद का आधार भी यही है, क्योंकि समाज को उसकी भाषा दिये बिना समाजवाद का नारा कैसे सफल हो सकता है? इसमें कुछ लोगों को असुविधा हो सकती है और उसका भी ध्यान रखना जरूरी है, पर उनके लिए समाज के हितों का बलिदान नहीं करना चाहिए।

प्रशासनिक कार्यों में हिन्दी के प्रयोग को सुकर बनाने के लिए अपेक्षित साहित्य का निर्माण भी इसी योजना के अन्तर्गत अविलम्ब होना चाहिए। दिल्ली में सचिवालय हिन्दी-परिषद् ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। इस प्रकार की पुस्तिकाएँ और पत्रिकाएँ प्रकाशित की जानी चाहिए जिनमें सामान्य व्यवहार की शब्दावली, वाक्य-विन्यास, तथा प्रयोग-भंगिमाओं का हिन्दी रूपांतर सहज लभ्य हो, जिसमें भाषा की कठिनाई के कारण काम न रूका पड़ा रहे। कुछ समय के लिए बड़े-बड़े कार्यालयों में इस प्रकार के हिन्दी-संदर्भ-एकक स्थापित होने चाहिए जो भाषा-संबंधी कठिनाइयों के तात्कालिक समाधान प्रस्तुत कर सकें। प्रत्येक राज्य ऐसी व्यवस्था अपने-अपने ढंग से कर सकता है और केन्द्रीय स्तर पर विभिन्न राज्यों की कार्य-पद्धतियों में समन्वय स्थापित किया जा सकता है। ये अत्यन्त उपयोगी और सरल उपाय है, जो अधिक व्यय-साध्य भी नहीं है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अब हम रचनात्मक कल्पना और सक्रिय विवेक से काम करें। हिन्दी की एक तात्कालिक आवश्यकता यह भी है कि केन्द्रीय और प्रादेशिक शासन तंत्रों द्वारा संचालित अनेक योजना-सूत्रों का समन्य किया जाए, जिसमें उपयोगी-अनुपयोगी में भेद कर उपयोगी का ग्रहण तथा अनुपयोगी का त्याग किया जाए, पुनरावृत्तियों का निराकरण किया जाए, प्राथमिकता-क्रम का निर्धारण हो सके और साधन-सामग्री का उचित संयोजन किया जा सके। हिन्दी का कार्य इतने विविध रूपों में और इतनी अनियोजित

रीति से हो रहा है कि कहाँ क्या होता है और उसकी क्या उपादेयता है, इसका पर्यवेक्षण करने का कोई प्रबंध ही नहीं है। परिणाम यह है कि शासन को यह शिकायत है कि हिन्दी के लोग अनुदान का उपयोग नहीं कर पाते या ठीक उपयोग नहीं करते। उधर हिन्दी-क्षेत्रों को यह शिकायत है कि सरकार हिन्दी के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह नहीं करती। इस प्रकार एक दुष्चक्र-सा बन गया है, जिसे तोड़ने का उपाय यही है कि एक बार समस्त योजनाओं का सर्वेक्षण और मूल्यांकन कर उनका उचित संगठन किया जाए—निष्क्रिय अंगों को काट दिया जाए और जीवत अंगों में नवीन रक्त का संचार किया जाए। इस कार्य के लिए वास्तव में एक केन्द्रीय संस्थान की आवश्यकता है, जो निरंतर इस प्रकार समन्वय संगठन करता रहे। इस संस्थान को प्रशासन के शिकंजे से मुक्त करना होगा, कार्यविधि की जटिल रूढ़ियों को सरल बनाना होगा और योजनाओं को समय की माँग के अनुसार ढालना होगा। राजभाषा का कार्य वास्तव में एक निरंतर प्रक्रिया है, जो देश की बढ़ती हुई आवश्यकताओं के साथ चलती रहेगी।

शिक्षा के क्षेत्र में भी—शिक्षा से अभिप्राय यहाँ उच्चतर शिक्षा का ही है—समस्या का रूप कुछ-कुछ इसी से मिलता जुलता किंतु अपेक्षाकृत कहीं अधिक व्यापक है। इस समस्या का समाधान कुछ तो हो चुका है, किन्तु काफी अभी बाकी है। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक-तकनीकी शब्दावली आयोग ने प्रायः दो लाख पारिभाषिक शब्दों का निर्माण कर ज्ञान के साहित्य की रचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। यह सामान्य उपलब्धि नहीं है। इस दिशा में इतना कार्य हो गया है कि विभिन्न विषयों के विद्वान अब स्वयं ही आगे की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। वास्तव में अभियंता सड़कों का निर्माण ही करते हैं, उन पर चलकर मंजिलें तय करना तो उत्साही यात्रियों का काम है। फिर भी, शब्द-निर्माण का यह कार्य रुकना नहीं चाहिए : इसे भी हमें एक निरंतर प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करना होगा। ग्रंथ-रचना का काम अभी तक व्यावसायिक प्रकाशकों और स्वेच्छिक लेखकों के हाथ में रहा है अभी तक जितना और जैसा कार्य हुआ है, वह अपर्याप्त हैः कम-से-कम स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए—विशेषकर वैज्ञानिक विषयों में, अभीष्ट सामग्री अभी नहीं है। लेकिन गत एक वर्ष से योजनाबद्ध रूप में यह कार्य आरंभ हो गया है और प्रत्येक हिन्दी-भाषी प्रदेश में एक-एक ग्रन्थ अकादमी स्थापित हो चुकी है, जिसे सभी विश्वविद्यालयों का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। यह हमारे लिए समय की ललकार है। अब तक हम शासन को दोष देते रहे हैं, किन्तु यह कभी नहीं सोचा कि हमने इस बृहद अनुष्ठान में कितना योगदान किया है। अब यह बहाना भी हमारे पास नहीं रहेगा। इस समय आवश्यकता है कुशल नेतृत्व की : प्रत्येक विश्वविद्यालय में हिन्दी-एकक की स्थापना की जाए और उसका दायित्व ऐसे व्यक्ति पर हो जिसमें योजना बनाने की नहीं, वरन् काम करने-कराने की क्षमता हो।

इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उभरकर सामने आ रहा है और वह है— अनुवाद बनाम मौलिक लेखन? अनुवाद की अपनी कठिनाइयां और अपनी सीमाएं हैं। सबसे पहले

कापीराइट का मामला है। पाठ्यक्रमों में निर्धारित पुस्तकें अंग्रेजी की हैं जिनके प्रकाशक इंग्लैंड व अमरीका में हैं। अनेक कारणें से वे इस दिशा में विशेष रुचि और उत्साह नहीं दिखा रहे। रूस आदि देशों में प्रकाशित पुस्तकें हमारे विश्वविद्यालयों में अभी लोकप्रिय नहीं हुईं। अतः अनुवाद के क्षेत्र में एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई प्रकाशनाधिकार की है जो काफ़ी दौड़धूप के बाद एक सीमा तक हल हो पायी है। दूसरी कठिनाई यह है कि शिक्षित अनुवादकों की संख्या आवश्यकता से कहीं कम है। ऐसे व्यक्ति जिनका मूल विषय के साथ हिन्दी भाषा पर भी वांछित अधिकार हो, बहुत ही कम हैं। यों हमारे विश्वविद्यालयों और उनसे सम्बद्ध महाविद्यालयों में हिन्दी के अध्यापकों की संख्या आसानी से आठ-दस हजार होगी। इनमें से भाषा पर अधिकार तो प्रायः सभी का है और अधिकांश बी.ए. तक एक-दो अन्य विषयों का भी अध्ययन कर चुके हैं, परन्तु सफल अनुवाद के लिए इतना काफ़ी नहीं है। उसके लिए विशेष प्रशिक्षण और अभ्यास की आवश्यकता होती है। शिक्षा-जगत के बाहर पत्रकारिता आदि के क्षेत्र में अभ्यस्त अनुवादक काफ़ी मिल सकते हैं, परन्तु उनका दृष्टिकोण शास्त्रीय नहीं है। इन दो बड़ी कठिनाइयों के अलावा अनुवाद की अपनी सीमाएं भी स्पष्ट हैं : अनुवाद आखिर अनुवाद ही है, मूल का समकक्ष कैसे हो सकता है? अंग्रेजी और अमरीकी लेखकों के ग्रंथ वहां की अपनी परिस्थितियों के संदर्भ में लिखे गये हैं। इसलिए उनका यथावत् अनुवाद करके रख देना सार्थक नहीं है। और फिर, अनुवाद के अंतर्गत विषय-प्रतिपादन की शैली तथा भाषा दोनों में ही एक प्रकार की कृत्रिमता आ जाती है जो पाठक के विषय-बोध को निरंतर बाधित करती रहती है। इन्हीं बाधाओं के कारण अनेक शिक्षाविद् अनुवाद के स्थान पर मौलिक लेखन का आग्रह करते हैं। परन्तु यह विकल्प भी सरल नहीं है। मौलिक लेखन को यदि सच्चे अर्थ में लिया जाए तो प्रश्न यह उठता है कि ऐसे लेखक देश में कितने हैं जो अंग्रेजी के उपलब्ध ग्रंथों के समतुल्यय मौलिक ग्रंथों की रचना हिन्दी में कर सकते हों? यह बात इतनी साफ़ है कि इसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। तो फिर, मौलिक लेखन से क्या अभिप्राय है? ज़ाहिर है कि मौलिक लेखन के पक्षधर अनुवाद के विपरीत संदर्भ में इस शब्दावली का प्रयोग करते हैं : यानी वे रूपांतर, अनुग्रहण, अनुकूलन आदि अनुवादेतर सभी प्रक्रियाओं को मौलिक लेखन के अंतर्गत स्वीकार कर लेते हैं। कभी-कभी वे यहां तक कह देते हैं कि किसी ग्रंथ-विशेष का अनुवाद करने से यह कहीं अच्छा है कि अनेक प्रमाणिक ग्रंथों से सामग्री-संकलन कर उसे हिन्दी की अपनी प्रतिपादन-शैली और सहज प्रकृति के अनुरूप प्रस्तुत कर दिया जाए। उनका तर्क है कि इससे कापीराइट के झंझट से भी बच जायेंगे और विषय की प्रतिपादन-शैली तथा भाषा भी अनुवाद-जन्य दोषों से मुक्त रहेगी। लेकिन यह उपाय जितना सरल लगता है—उतना है नहीं। इसमें भी कानूनी और नैतिक बाधाएं हैं। और फिर, इस प्रकार की पुस्तकें क्या हिन्दी के गौरव के अनुरूप होंगी? एक बार इस प्रवृत्ति को हमने स्वीकृति तथा प्रोत्साहन दिया तो आगे के लिए

गलत रास्ता खुल जाएगा और हम शैक्षणिक स्तर की रक्षा नहीं कर पायेंगे। इसलिए अनेक दोषों के रहते हुए भी अनुवाद कार्य से बचना, कम-से-कम आरम्भिक स्थिति में, संभव नहीं है। हाँ, अनुवाद की प्रविधि और प्रक्रिया में अपेक्षित सुधार अवश्य होना चाहिए। ज्ञान के साहित्य में, जहाँ कथ्य का महत्त्व कथन से अधिक है, शब्दानुवर्ती अनुवाद की अपेक्षा अर्थानुवर्ती अनुवाद ही अधिक उपयोगी है। दूसरे, विदेशी पुस्तकों के जो प्रसंग हमारे विद्यार्थी तथा पाठक के लिए अनावश्यक एवं अग्राह्य हैं, उनका त्याग करते हुए, आवश्यकतानुसार पाद-टिप्पणी अथवा परिच्छेद के परिशिष्ट-रूप में, अपने देश और परिवेश के संदर्भों का समावेश कर देना चाहिए। वास्तव में, हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अविकल अनुवाद की नहीं संपादित अनुवाद की योजनाएं ही अधिक उपयोगी हैं : अंग्रेजी के उत्तम से उत्तम ग्रंथ का भी अविकल अनुवाद हमारे विद्यार्थी के काम का नहीं है। उसके बहुत से अंश अनावश्यक होते हैं, जिन पर समय व धन का अपव्यय हीं करना चाहिए। उनके स्थान पर विषय के अधिकारी भारतीय विद्वानों की भूमिकाएँ तथा आवश्यक परिशिष्ट आदि देने से इन ग्रंथों की उपादेयता और भी बढ़ सकती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि विभिन्न विषयों के प्रामाणिक ग्रंथों के संपादित अनुवाद अविलम्ब ही प्रस्तुत करना हिन्दी की अनिवार्य आवश्यकता है। उसके लिए विपुल संख्या में योग्य अनुवादक तैयार करने होंगे। उनके प्रशिक्षण व अभ्यास के लिए प्रमुख विश्वविद्यालयों में तत्काल ही केन्द्र स्थापित करने चाहिए, अनुवाद-कार्य को उच्चतर शिक्षा के अंतर्गत मान्यता देनी चाहिए और सभी विश्वविद्यालयों तथा बड़े-बड़े महाविद्यालयों में ऐसे पूर्ण-कालिक अनुवादक-अध्यापकों की नियुक्ति होनी चाहिए जो आवश्यक सामग्री निरन्तर हिन्दी में उपस्थित करते रहें। अभी कुछ समय पहले भारत के भूतपूर्व शिक्षा-मंत्री डॉ. राव की प्रेरणा से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक बृहद् योजना बनाई थी। लेकिन न जाने किन कारणों से उसमें हिन्दी को उचित स्थान नहीं मिल पाया। उसको या ऐसी ही योजनाओं को शीघ्र ही कार्यान्वित करना आज एकदम जरूरी है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं मौलिक लेखक का अवमूल्यन कर रहा हूँ। वास्तव में मौलिक लेखक की समता अनुवाद नहीं कर सकता—यह एक स्वयं-सिद्ध तथ्य है। किन्तु जहाँ अनेक कारणों से मौलिक लेखन की संभावना नगण्य हो, वहाँ अनुवाद के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। रूपान्तर, अनुग्रहण आदि उपयों का भी विवेकपूर्वक व्यवहार किया जा सकता है, पर इसके आगे और सस्ते तरीकों का इस्तेमाल करने से कुल मिलाकर नुकसान ही होगा। किसी भी क्षेत्र में मौलिक लेखन की स्थिति तक पहुंचने के लिए सामान्यतः दो मंजिलें पार करनी पड़ती हैं। पहली में अनुवाद और आदान का प्राधान्य रहता है, दूसरी में आख्यान-प्रत्याख्यान का; —फिर तीसरी में जाकर नैसर्गिक प्रतिभा के उद्दीप्त होने पर मौलिक सृष्टि संभव होती है।

आधुनिक युग में ललित साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी का विकास इसी क्रम में हुआ है; अतः ज्ञान के साहित्य में भी इसी का अनुकरण श्रेयस्कर रहेगा।

हिन्दी की एक अन्य आवश्यकता है प्रमुख विश्वविद्यालयों में उच्चतर अध्ययन-केन्द्रों (एडवांस सेंटर्स) की स्थापना। इस समय देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में इस प्रकार के 30 केन्द्र हैं, जिनमें ज्ञान-विज्ञान के अधिकांश विषयों के गहन-व्यापक अनुसंधान की व्यवस्था है। दुर्भाग्य से हिन्दी अभी तक इस सामान्य गौर से वंचित है। देश में छोटे-बड़े कुल 83 विश्वविद्यालय हैं, जिनमें से अधिकांश में हिन्दी का अध्यापन हो रहा है और कम-से-कम 50 में उच्चतम शिक्षा तथा शोध की नियमित व्यवस्था है। मेरा निश्चित मत है कि गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से इतना अधिक कार्य किसी अन्य विषय में नहीं हो रहा। एक बार यह प्रश्न उठा था— लेकिन इसके उत्तर में यह प्रश्न उठाया गया कि यदि हिन्दी के लिए इस प्रकार का प्रावधान किया गया तो अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी करना होगा। यहाँ हम हिन्दी और भारतीय भाषाओं के विवाद में नहीं पड़ना चाहते। सवाल यह है कि क्या हिन्दी के महत्त्व और विस्तार को देखते हुए उसको यह सुयोग नहीं मिलना चाहिए? हिन्दी के साथ कुछ अन्य प्रमुख भाषाओं के लिए प्रावधान करना आवश्यक हो तो जरूर किया जाए, यदि एक साथ न हो सके तो क्रमशः किया जाये। परन्तु अन्य भारतीय भाषाओं के नाम पर हिन्दी को उसके प्राप्य से वंचित करना तो उचित नहीं है। वास्तव में हिन्दी तथा अन्य प्रमुख भारतीय भाषाओं का पक्ष अन्य विषयों की अपेक्षा और भी प्रबल है—क्योंकि विज्ञान तथा अर्थशास्त्र आदि के लिए जहां विश्व भर में बड़े-बड़े शोध-केन्द्र विद्यमान हैं, वहाँ हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का गहन अध्ययन केवल भारत में ही हो सकता है। समस्त भारत में देश की राजभाषा के उच्चतर अध्ययन का एक भी केन्द्र न हो, यह कुछ विचित्र-सी ही बात है। मैं समझता हूँ कि हिन्दी-प्रदेशों के प्रमुख विश्वविद्यालयों को इस दिशा में संगठित प्रयत्न करना चाहिए।

सर्जनात्मक क्षेत्र में हिन्दी-साहित्य की धारा आजकल कुछ उतार पर है। वैसे तो वर्तमान युग की तीनों ही पीढ़ियों के लेखक अपने-अपने ढंग से सक्रिय हैं। पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों में पंत, दिनकर, बच्चन, यशपाल, भगवती-चरण वर्मा, जैनेन्द्र आदि का लेखन-व्यापार चल ही रहा है, और नयी पीढ़ी तो मानो सम्पूर्ण युग का भार अपने कंधों पर ही ढो रही है। इधर नयी से भी नयी पीढ़ी का यह दावा है कि आज के जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने का अधिकार और दायित्व उसको ही प्राप्त है। फिर भी, उपलब्धि की दृष्टि से ऐसा अधिक नहीं है जो कालजयी साहित्य के अंतर्गत आ सके। इसके कारण अनेक हो सकते हैं। अभी दिल्ली के एक मंच से कवि दिनकर ने नयी कविता की सिफ़ारिश करते हुए कहा था कि आज की नारी ने जैसे परम्परालब्ध वस्त्रालंकार त्यागकर चुस्त वेशभूषा का वरण किया है, शरीर के मांसल उभार के स्थान पर उसके मन में छरहरी देहयष्टि के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है : उसी प्रकार

कविता ने भी अभिव्यक्ति की साज-सज्जा और विषयवस्तु की रस-पेशलता का मोह छोड़कर कथन की चुस्ती में ही अपनी सार्थकता मान ली है। आधुनिक नारी जैसे अपने व्यक्तित्व और उनके प्रभाव के बीच किसी प्रकार का व्यवधान नहीं चाहती, इसी प्रकार कविता भी किसी प्रकार की आरोपित सौन्दर्य-सज्जा के बिना अपने प्रभाव को सार्थक करना चाहती है। यहाँ बात एक खास अन्दाज़ से कही गयी है। उसमें कवि-विचारक के सर्जनात्मक चिन्तन का चमत्कार तो है पर एक सीमा से आगे नयी कविता की स्थापना इससे नहीं हो पाती। इस पर सच्ची कविता का पारखी प्रश्न कर सकता है : क्या चुस्त पोशाक व्यक्तित्व की सार्थकता का अमोघ साधन है? एक और जहाँ वह किसी सुन्दर देह-यष्टि के प्रभाव का प्रत्यक्ष माध्यम बन सकती है, वहाँ दूसरों की कहीं अधिक दुर्गति का कारण भी बन सकती है। दिल्ली का निवासी होने के कारण चुस्त-पोशाक के चमत्कार से मैं काफ़ी परिचित हूँ और मुझे विश्वास हे कि इसका थोड़ा अनुभव आपको पटना में भी होता ही होगा। वास्तव में वेशभूषा का भी एक विज्ञान का दर्शन होता है। व्यक्तित्व के गुणों को उभारने और दोषों को छिपाने में ही उसकी सार्थकता है। नयी कविता में कथन का लाघव जहाँ रमणीय अनुभूति को चमत्कृत करता है वहाँ फूहड़ अनुभूति को नंगा कर उसे वीभत्स बन देता है। कथन का लाघव भी तो अलंकार ही है, और जैसा-कि वामन ने लिखा है, 'अलंकार का यह धर्म है कि वह सुन्दर को अधिक सुन्दर तथा कुरूप को और भी कुरूप बना देता है।' इसलिए जिस प्रकार अनावश्यक अथवा अनुप्रयुक्त अलंकार धारण करने से कविता के सहज रूप की हानि होती है, इसी प्रकार अर्धनग्न अथवा निर्वसन हो जाने से भी उसका अपकार ही होता है। नये कवि के मन में कथन के लाघव के प्रति इतना अधिक मोह पैदा हो गया है कि वह कथ्य की उपेक्षा कर कला-सृजन के मौलिक नियम की अवहेलना कर रहा है। दृष्टिकोण का यही असंतुलन हमारे वर्तमान साहित्य की एक प्रमुख बाधा है और रचनात्मक उपायों से इसका निराकरण करना आज अत्यन्त आवश्यक हो गया है। ऐसे रचनात्मक उपाय अनेक हो सकते है जिनसे साहित्य के मूल्यों में स्थिरता आये : विवाद और संघर्ष की अपेक्षा सर्जना को बल मिले, नये-पुराने साहित्य या नयी-पुरानी पीढ़ी का अकारण द्वन्द्व मिटे और युग-बोध तथा तत्त्व-बोध, परम्परा और प्रयोग, संस्कार और चमत्कार के सामंजस्य स्थापित हो सके। इन सबका उल्लेख करना न इस समय संभव है न उचित ही। यहाँ मैं केवल दो-एक अत्यंत आवश्यक उपायों का ही उल्लेख करना चाहता हूँ।

सर्जनात्मक साहित्य के क्षेत्र में स्थिरता लाने के लिए पहली आवश्यकता तो यह है कि विभिन्न वयःक्रम और दृष्टिकोण के प्रतिभाशाली लेखकों के बीच सद्भाव उत्पन्न किया जाए जिससे स्थापित लेखक उदीयमान प्रतिभा की उपेक्षा न करे और नवोदित लेखक अपने पूर्वजों एवं अग्रजों के प्रति अकारण आक्रोश व्यक्त न करे। जो प्राचीन है वह सभी साधु नहीं हैं, यह ठीक है; किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि सभी प्राचीन असाधु भी नहीं है। इसी प्रकार, नवीन

प्रतिभा के उन्मेष का आदर करना चाहिए; किन्तु नवीनता मात्र प्रतिभा का उन्मेष नहीं है, यह विवेक भी आवश्यक है। आज नये और पुराने साहित्य के अलग-अलग मंच है और अलग-अलग मुखपत्र जिससे यह खाई और बढ़ती जा रही है। इनके स्थान पर ऐसी संस्थाओं और मंचों का विकास करना चाहिए जहाँ साहित्य का आकलन और विवेचन हो—नये और पुराने आवरणों के बीच दबे हुए साहित्य के स्वरूप का उद्घाटन किया जाए, परम्परा अपने विकास से स्फूर्ति और विकास अपनी परम्परा से समृद्धि ग्रहण करे, नये-पुराने की भेदभावना और वादों के पूर्वग्रह से मुक्त होकर सच्चा साहित्यकार जहाँ शुद्ध मन से कला की आराधना कर सके : युगबोध और इतिहास-बोध के प्रति सजग रहता हुआ भी वह सौन्दर्य-बोध की प्राथमिकता दे सके। इसी से सम्बद्ध अथवा इसी का पूरक एक और भी उपाय है और वह है ऊंचे स्तर की साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन। इस समय गंभीर मासिक पत्रिकाओं का हिन्दी में एकदम अभाव हो गया है : ऐसा अकाल शायद पहले कभी नहीं पड़ा। तात्कालिक और संकीर्ण उद्देश्यों को लेकर लघु-पत्रिकाओं का प्रकाशन बढ़ रहा है जिनसे साहित्य के क्षेत्र में अराजकता फैलती जा रही है। परन्तु गंभीर लेखक को अपने विचारों के सम्यक् प्रसार के लिए और सर्जक साहित्यकार को अपनी कृतियों को उचित समीक्षा के लिए कोई अच्छा माध्यम सुलभ नहीं है। ग्रंथ-समीक्षा साहित्य के विकास का सदा से ही एक प्रभावी साधन रहा है। पर आज उसका कोई मूल्य नहीं रहा। सिद्ध लेखक को उसमें रुचि नहीं है : वह केवल आशीर्वचन या भूमिका लिखता है। दैनिक पत्रों मे पुस्तक-परिचय मात्र रहता है, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं और उसके समीक्षकों के दृष्टिकोण इतने विभक्त हो गये हैं कि वहाँ आलोच्य पुस्तक का मूल्यांकन उसके विषय, लेखक के नाम और प्रवृत्ति आदि के आधार पर पूर्वनिर्धारित हो जाता है : सम्पादक समीक्षक को लिख देता है कि इसके साथ 'न्याय' कीजिए और समीक्षक वक्ता-बोद्धव्य के अनुसार उसका अर्थ लगाकर पूरा 'न्याय' करता हुआ एक रचना को विश्व-साहित्य की निधि और दूसरी को मुद्रण व प्रकाशन का अपव्यय मात्र घोषित कर देता है। प्रतिष्ठित साहित्यकारों के अपने-अपने प्रभा-मण्डल हैं जिनके सदस्य अर्ध्य और मधुपर्क से लिखते हैं, और उनके विपक्ष में है आक्रोशमय युवावर्ग जो तेजाब से लिखता है। परिणाम यह है कि लेखक और प्रकाशक अपनी पुस्तकें समीक्षा के लिए भेजने से कतराते हैं, सुधी सम्पादकों को सही समीक्षक नहीं मिलते और समीक्षकों को अपनी रुचि के अनुकूल पत्र-पत्रिकाओं में स्तम्भ नहीं मिलते। यह स्थिति हिन्दी या किसी भी विकासशील भाषा के लिए अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है। इसका समाधान शीघ्र ही होना चाहिए। इसके लिए व्यापक आयोजन और स्थायी व्यवस्था की अपेक्षा है : हिन्दी की प्रमुख संस्थाओं को स्वतंत्र रूप से और उत्साही प्रकाशकों के सहयोग से इस दिशा में उद्योग करना चाहिए।

बन्धुओं ! आज हमारे राजनीतिक और सामाजिक जीवन में बड़ी उथल-पुथल मची हुई है : राजनीति की वर्तमान गतिविधि इस तथ्य का संकेत कर रही है कि अतिवादी दृष्टिकोण

राष्ट्र के हित में नहीं है और देश की जनता भी उन्हें स्वीकार नहीं कर रही। आज आवश्यकता है ऐसे रचनात्मक दृष्टिकोण की जो अपने परिवेश के अनुकूल अतीत की उपलब्धियों की भूमिका पर वर्तमान का संयोजन और भविष्य का निर्माण करे : राष्ट्र की समृद्ध परम्पराओं का निषेध न कर उनका विकास व संशोधन करे, आन्दोलन मात्र से संतुष्ट न होकर विधान को लक्ष्य बनाकर चले। हमारे साहित्य क संवर्धन के लिए भी ऐसे ही दृष्टिकोण की अपेक्षा है : उसके कल्याण का मार्ग भी यही है।

इस सम्मान और सौजन्य के लिए मैं एक बार फिर, अत्यंत विनीत भाव से, आपका धन्यवाद करता हूँ।

—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना के सत्रहवें वार्षिकोत्सव का अध्यक्षीय भाषण।

अनुवाद और संस्कृति

—सूर्यनारायण रणसुभे

अनुवाद के सन्दर्भ में एक ऐसी भ्रमपूर्ण भावना है कि जिस व्यक्ति का दो भिन्न भाषाओं पर असाधारण अधिकार होता है, वह सफल अनुवादक हो सकता है। दो भाषाओं पर असाधारण अधिकार तो चाहिए ही परन्तु मात्र इतने से काम नहीं चल सकता। उन दो भाषाओं की संस्कृति से सम्बन्धित जानकारी भी उसे होनी ज़रूरी है। अंग्रेजी पर असाधारण अधिकार रखने वाले किसी व्यक्ति का घना परिचय अंग्रेज-संस्कृति से हो यह जरूरी नहीं है। भाषा जानना एक बात है और संस्कृति को जानना दूसरी बात। ये दोनों भिन्न स्वरूप की क्रियाएँ है। भाषा तथा साहित्य के माध्यम से कुछ मात्रा में संस्कृति का ज्ञान होता है। परन्तु उसे संस्कृति की सारी बारीकियाँ उस साहित्य में से व्यक्त होती ही जाएँगी-इसकी गारंटी नहीं। इसी कारण दोनों भाषाओं की संस्कृति को समझ लेना—यह अनुवादक की पहली जिम्मेदारी होती है। विशेषतः सृजनात्मक भाषा के सन्दर्भ में संस्कृति का प्रश्न अत्यंत जटिल होता है। वैचारिक साहित्य में भी संस्कृति प्रतिध्वनित होती रहती है।

सृजनात्मक साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य से होता है और मनुष्य संस्कृति विरहित हो ही नहीं सकता : मनुष्य किसी भी वर्ण, धर्म, जाति, वंश अथवा लिंग का हो; किसी भी परिवेश में जीता रहा हो, उसके जीने में संस्कृति प्रतिबिम्बित-प्रतिध्वनित होती ही रहती है। वह जिस भाषा का प्रयोग करता रहता है, उसका निर्माण तो संस्कृति से ही होता है। भाषा तथा संस्कृति को अलग करना वास्तव में बहुत मुश्किल काम है। इसके अलावा उसकी श्रद्धाएँ, उसके विचार, उसकी भावनाएँ, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध, पारिवारिक सम्बन्ध, द्वेष, ईर्ष्या, प्रेम, त्याग, जीवनमूल्य, वेशभूषा, खानपान आदि सभी का सम्बन्ध संस्कृति से होता है और इसी कारण किसी सृजनात्मक कृति के अनुवाद का अर्थ है एक भाषा की संस्कृति को दूसरी भाषा में ले जाना और इसी कारण दोनों भाषाओं की संस्कृति की उसकी जानकारी ठीक होनी चाहिए। श्रेष्ठ सृजनात्मक कृतियों की यह विशेषता होती है कि उनकी जड़ें अपनी संस्कृति में गहरे रूप से होती हैं और उसी समय वे उस संस्कृति के परे जाकर विश्वभर के मनुष्य से अपना रिश्ता जोड़ते रहते हैं। रचना जब अपनी संस्कृति के परे जा नहीं सकती, तब वह अन्य संस्कृति के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट भी नहीं कर पाती। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण दिया जा सकता है। बंगाली

लेखक विमल मित्र के उपन्यास पर आधारित 'साहब बीवी और गुलाम' फिल्म का निर्माण गुरुदत्तजी ने किया। ऐसा लगा कि वह फिल्म विश्वभर के रसिकों को प्रभावित कर सकेगी। परन्तु यूरोप के फिल्म समीक्षकों को यह फिल्म प्रभावित नहीं कर सकी। उनके अनुसार कोई स्त्री शराब पीती है, इसलिए उसका पूरा परिवार उध्वस्त हो सकता है–इसे वे अतिशयोक्तिपूर्ण स्थिति बतलाते हैं। यहाँ दो भिन्न संस्कृतियों के दृष्टिकोण का प्रश्न आता है। अच्छे खासे घर की बहू शराब पीती है और नशे के अधीन चली जाती है और इस कारण परिवार टूट जाता है यह भारतीय परम्परा के सम्भव है। अत्यंत प्रतिष्ठित घर की स्त्री शराब पी रही है, यह सन् 1960-70 के दशक में विस्फोटक घटना मानी जाती थी। परन्तु यूरोप में शराब पीना-यह इतनी आम बात है कि इसे अपराध या बुरे कृत्य के रूप में नहीं देखा जाता। एक संस्कृति में स्थित श्रद्धा जरूरी नहीं कि दूसरी संस्कृति में भी वह श्रद्धा का विषय हो।

संस्कृति के अनेक रंग होते हैं

भारत जैसे-विशाल देश की संस्कृति में विविधता भरपूर मात्रा में है। यहाँ एक संस्कृति अथवा एक जीवन-पद्धति नहीं है। उसके अनेक प्रादेशिक रूप हैं और इसमें भी प्रत्येक प्रदेश के अलग-अलग विभागों में उसके भिन्न-भिन्न रूप हैं। हिन्दी प्रदेश की संस्कृति हिन्दीतर भाषी प्रदेश की तुलना में काफी भिन्न है। हिन्दी के किसी उपन्यास/कहानी में करवा-चौथ का अगर वर्णन आ जाए, तो उसका अनुवाद किस प्रकार करेंगे? उसका अनुवाद करने के पूर्व पाठकों को यह जानकारी देनी होगी कि करवा-चौथ है क्या? उसके मूल में क्या धारणा है? और उसे कैसे मनाया जाता है? भाषिक स्तर पर भी दो भिन्न स्थितियाँ हैं। हिन्दी भाषा का जन्म तथा विकास पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था में हुआ है तो दक्षिण भारत की सभी भाषाएँ तथा मराठी का जन्म तथा विकास मातृसत्तात्मक व्यवस्था में हुआ है। इसके अवशेष आज भी इन भाषाओं में उपलब्ध हैं। एक ही उदाहरण देता हूँ। हिन्दी प्रदेश की कोई भी स्त्री (अथवा पुरुष) पराए पुरुष का परिचय अपने बेटे या बेटी को करा देते समय कहती है कि उस चाचा जी से पूछ, पुरुष हो तो कहेगा उस चाची से पूछ। परन्तु महाराष्ट्र या दक्षिण में पराए पुरुष का परिचय करा देते समय कहा जाता है, ''उस मामा से पूछ अथवा उस मौसी से पूछ, हिन्दी प्रदेश की स्त्री पराए पुरुष को सम्बोधित करते समय अपने पति की ओर के रिश्ते का उपयोग करेगी तो दक्षिण भारत और महाराष्ट्र की स्त्री अपनी माँ से सम्बन्धित रिश्ते का उपयोग करेगी। पुरुष भी सम्बोधन के समय ऐसे ही करता है। अब किसी उपन्यास या कहानी में आए हिन्दी वाक्य का-चाचाजी, इसका क्या दाम?'' का मराठी अनुवाद काका के बजाए 'मामा' अधिक सटीक और मराठी भाषा और संस्कृति के अधिक निकट का होगा। उस मौसी से पूछ कि बुआ से पूछ? स्पष्ट है कि प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है, शब्दों की, सम्बोधन की अपनी एक परम्परा होती है। यहाँ केवल शब्दानुवाद से काम नहीं चलेगा। शब्दों के अपने कुछ संकेत होते हैं।

रूढ़ियाँ होती हैं। इन संकेतों और रूढ़ियों को ध्यान में न रखते हुए अगर अनुवाद किया जाए तो भाषिक घोटालों की सम्भावना अधिक होती है। ऐसी स्थिति में मूल लेखक की संवेदना या तो पहुँचती नहीं और अगर पहुँच भी जाए तो उसके भिन्न परिणाम की संभावना होती है।

इस संदर्भ में एक अनुवादक के रूप में जिन दिक्कतों से मैं गुजरा हूँ उसका उल्लेख करना चाहूँगा। इससे यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि संस्कृति और अनुवाद का कितना गहरा सम्बन्ध होता है। मराठी के एक प्रतिभा सम्पन्न नाटककार श्री रामचनाथ चव्हाण के नाटक 'बामनबाडा' का मैं अनुवाद कर रहा था। इस नाटक में ब्राह्मण समाज की पढ़ी लिखी युवती एक बुद्धिमान दलित युवक की ओर आकृष्ट हो जाती है और दोनों सोच समझकर विवाह का निर्णय ले लेते हैं। दोनों विवाह भी कर लेते हैं। युवती के पिता प्रगतिशील विचारों के हैं। उनका विरोध नहीं है। युवती के भाई का भी इस विवाह का विरोध नहीं था। विरोध था तो युवती की माँ का और माँ की ओर के रिश्तेदारों का। विवाह के कुछ महीनों बाद इस युवती की माँ की ओर की कुछ स्त्रियाँ इस युवती से मिलने उसके घर जाती हैं। उस युवती को बेहद खुशी होती है। औपचारिक गपशप के बाद वह युवती उन्हें पानी देने जाती है। वे नकारती हैं। फिर चाय के लिए पूछती है, वे नकारती हैं। चाय, कॉफी, नाश्ता, शरबत-सबको वे नकारती हैं। युवती बुद्धिमान है। वह जान जाती है कि चूँकि वह दलित के घर ब्याह करके आई है, इसलिए उसके घर की किसी भी चीज को वे स्वीकार नहीं करना चाहती। अंततः वे स्त्रियाँ निकलती हैं। आई हुई ये तीनों स्त्रियाँ विवाहित हैं। सुहागिनें हैं और इसी कारण यह युवती हाथ में सिन्दूरदानी लेकर उन्हें सिन्दूर लगाने जाती हैं तब वे तीनों स्त्रियाँ बड़ी चालाकी के साथ उसका स्पर्श टालकर निकल जाती हैं। वह युवती उदास मन से सिन्दूरदानी लेकर खड़ी है, वे तीनों धीरे-धीरे दरवाजे से बाहर निकल रही हैं, ठीक इसी समय पटाक्षेप होता है। (प्रस्तुत नाटक का हिन्दी अनुवाद वाणी प्रकाशन, दिल्ली से, बामण वाडा शीर्षक से प्रकाशित है।)

घर आए विवाहित स्त्री के बालों में अथवा भाल प्रदेश पर सिन्दूर लगाना यह मराठी संस्कृति है। कोई भी सुहागन इसे नकारती नहीं। उल्टे उसे वे अपना सम्मान समझती हैं। सिन्दूर को नकारना अर्थात् उस युवती के स्पर्श को नकारना-यह घटना इसका संकेत देती है कि दलितों के प्रति किस प्रकार की भावना तथाकथित सवर्णों में है। यह स्थिति बहुत करुण है। सवर्णों में वर्ण और जाति के श्रेष्ठत्त्व की भावना कितनी गहराई में बस गई है, इसका यह प्रमाण है। अस्पृश्य युवक का स्पर्श जिस युवती को हुआ है, भले ही वह सवर्ण हो—उसका स्पर्श भी हम नकारते हैं—यह इसकी मूल संवेदना है।

मराठी नाटक द्वारा यह मूल संवेदना दर्शकों/पाठकों तक ठीक से पहुँच पाती है। अब इस पूरे दृश्य का अनुवाद हिन्दी में कैसे करें? मैंने हिन्दी भाषिकों से सम्पर्क स्थापित किया। सुहागन जब किसी के घर जाती है तो उसको किस प्रकार सम्मानित किया जाता है—यह मेरी

जिज्ञासा थी और अगर उसे सम्मानित करने की कोई रूढ़ि, कोई संकेत, कोई प्रतीक हों तो मैं उसका उपयोग यहाँ करना चाहता था। परन्तु ऐसी एक भी रूढ़ि, एक भी संकेत या प्रतीक हिन्दी प्रदेश में नहीं है—ऐसा मुझे कहा गया। उपन्यास/कहानी का अनुवाद होता तो फुट-नोट देकर मैं हिन्दी पाठकों को इस युवती में आई उदासी को समझा सकता था। पर यह था नाटक। एक संस्कृति में स्थित संकेत दूसरे भाषिक संस्कृति में कैसे ले जाएँ? नाटक के अनुवाद के कारण स्थिति और भी जटिल थी। अंततः नाटककार की अनुमति से उस दृश्य को ही मैंने निकाल दिया। जो संवेदना भाषिक अनुवाद से पहुँच ही नहीं पाती, उसका अनुवाद बेमतलब का ही साबित होगा। न पाठक उसे समझ पाएँगे, न दर्शक। अगर शाब्दिक अनुवाद कर भी डालता तो यह लेखक की संवेदना के साथ बेईमानी ही होती, क्योंकि वह पहुँच नहीं पाती। नाटककार की मूल संवेदना है कि एक दलित के साथ तुमने विवाह किया है न! उसका स्पर्श तेरे शरीर को हुआ है न, तो तुम्हारा स्पर्श भी हम नहीं चाहते। अब हमारे लिए तू भी अस्पृश्य! यह संवेदना उस अनुवाद से पहुँच ही नहीं सकती थी।

महाराष्ट्र के जिस विभाग का मैं निवासी हूँ; उसे मराठवाड़ा कहते हैं। इस विभाग में कुछ उत्सव आयोजित किए जाते हैं। ये उत्सव शेष महाराष्ट्र में नहीं होते। कुछ उत्सव तो पूरे जिले में भी नहीं कुछ तहसीलों में मात्र सम्पन्न होते हैं। ऐसे स्थानिक रूढ़ियों और संकेतों का अनुवाद करते समय तो बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है। और इसी कारण अनुवादक को दोनों ओर की संस्कृति के संकेतों, रूढ़ियों, कर्मकांडों की सूक्ष्म जानकारी की जरूरत होती है। नाते -रिश्तों के शब्दों में भी इतनी विविधता होती है कि उससे कई भ्रम पैदा होने की सम्भावना होती है। हमें ऐसे लगता है कि नाते-रिश्तों के शब्द सभी भारतीय भाषाओं में हैं। भारत में पारिवारिक व्यवस्था सुदृढ़ होने से इससे सम्बन्धित शब्दों की भरमार भी सभी भारतीय भाषाओं में होगी। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। हिन्दी प्रदेशों में माँ के पिताजी के लिए (नाना) और पिता के पिता के लिए (दादा) स्वतंत्र शब्द हैं। मराठी में दोनों के लिए एक ही शब्द है। हिन्दी प्रदेश में पिता के पिता को 'बावा' अथवा 'बाबा' दोनों शब्दों का प्रचलन है। मराठी में 'बाबा' पिताजी के लिए रूढ़ है। यहाँ एक अन्य अनुभव को देना चाहूँगा। श्री लक्ष्मण गायकवाड़ की मराठी आत्मकथा उचल्या (इसका हिन्दी अनुवाद मैंने 'उठाईगिर' शीर्षक से किया तथा इसे साहित्य अकादमी ने प्रकाशित किया। बाद में इसी अनुवाद को राधाकृष्ण ने 'उचक्का' शीर्षक से प्रकाशित किया है।) का अनुवाद करते समय एक मराठी शब्द आया, 'वहिनी' इसके लिए हिन्दी में शब्द है भाभी। पर मैंने अनुभव किया कि लेखक ने कुछ स्थानों पर 'वहिनी' और कुछ स्थानों पर हिन्दी शब्द 'भाभी' का प्रयोग किया है। 'वहिनी' का मैंने भाभी अनुवाद किया अब भाभी का अनुवाद क्या करूँ? परन्तु बाद में मैंने अनुभव किया कि ये दो अलग-अलग स्त्रियाँ हैं। इनमें से एक को लेखक 'वहिनी' कहता है और एक को भाभी। मैं गड़बड़ा गया। मूल लेखक से मैंने

सम्पर्क किया। उन्होंने कहा कि सर, हमारी जाति में बड़े भाई की पत्नी को 'वहिनी' और छोटे भाई की पत्नी को भाभी कहते हैं। लक्ष्मण गायकवाड़ मंझले हैं। अब यहाँ कमाल देखिए कि एक जाति ने अथवा एक परिवार ने अपनी भाषाई सुविधा हेतु हिन्दी के एक शब्द का उपयोग घर की दो स्त्रियों में अन्तर करने हेतु कितनी खूबसूरती से किया है। हिन्दी और मराठी शब्दों के उपयोग में उन्होंने दो स्त्रियों के सम्बन्धों को स्थायी रूप दिया है। अब इस घर में जन्में लड़के-लड़कियाँ इसी भाषिक संस्कार को लेकर बड़े होंगे। ऐसी स्थिति में अनुवादक इन शब्दों का अनुवाद करते समय क्या प्रतिशब्द देगा? मंझली और छोटी यह विशेषण देकर अथवा बड़ी भाभी या छोटी भाभी लिखकर। इतना निश्चित कि दोनों ओर वह 'भाभी' नहीं लिखेगा। इससे स्पष्ट है कि एक ही भाषा बोलने वाले भाषिक समूहों में संस्कृति के जो सूक्ष्म आयाम होते हैं, उन्हें गहराई में जाकर समझ लेने की जरूरत होती है।

सम्बन्धित प्रदेश के जन-जीवन की गहरी जानकारी

एक सफल अनुवादक की यह जिम्मेदारी होती है कि जिस लक्ष्य भाषा में वह अपनी स्रोत भाषा की रचना का अनुवाद करना चाहता है, उस लक्ष्य भाषा के जनजीवन के सभी आयामों को वह पहले जान लें। वहाँ स्थित श्रेष्ठ-कनिष्ठ की श्रेणी को भी वह ठीक से समझ लें। विशेषतः भारतीय समाज-व्यवस्था इतने विभिन्न तबकों में, श्रेणियों में, जाति-उपजातियों में बँटी है कि उसकी जानकारी के अभाव में कहानी-उपन्यास-नाटक में आए पात्र एक दूसरे को जिस प्रकार से सम्बोधित करते हुए बोलते हैं, उसकी यथार्थता को समझ नहीं पाएंगे। मराठी प्रदेश मूलतः मातृोपासक प्रदेश होने के कारण देवी की उपासना से संबंधित दर्जनों शब्द इस भाषा में हैं। तो इसके ठीक उलटे हिन्दी प्रदेश पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था में से आने के कारण वहाँ इस प्रकार के शब्दों का अभाव है और इस कारण ऐसे शब्दों के (मातृोपासना से संबंधित) अनुवाद के समय काफी दिक्कतें आती हैं। जैसेः मराठी दलित आत्मकथाओं में कहानियों में 'परड़ी' शब्द आता है। परड़ी भरणे परड़ी घेउन हिंडणे आदि। परड़ी की यह संस्कृति हिन्दी में नहीं है। ऐसे समय फुटनोट देने पड़ते हैं। इन शब्दों के मूल में जो कर्मकांड है, उसे समझाना पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार के कुछ त्यौहार हिन्दी-प्रदेश के हैं। हिन्दीतर प्रदेश के लोग इन त्यौहारों से सम्बन्धित शब्दों को समझ नहीं पाते। कोश में इनके अर्थ नहीं होते। लेखक के सामने क्योंकि हिन्दी प्रदेश का पाठक है, इसलिए वह फुटनोट नहीं देता। हिन्दी प्रकाशक और लेखक को इसका अहसास नहीं होता कि हिन्दी की कृतियाँ हिन्दीतर भाषी प्रदेश में भी पढ़ी जाती हैं। इसलिए फुटनोट दिए जाएँ। इस प्रकार के फुटनोट न होने से हिन्दीतर प्रदेश के पाठकों तथा अनुवादकों को उस आशय को ग्रहण में कठिनाई हो जाती है।

दलित और आंचलिक साहित्य का अनुवाद

मध्यवर्गीय जीवन से संबंधित साहित्य का अनुवाद करना बहुत चुनौती पूर्ण नहीं होता। क्योंकि 19वीं शती के बाद विकसित होने वाले मध्यवर्गीय जीवन की संवेदना सभी प्रदेशों में करीब-करीब एक ही प्रकार की है। उनकी एक भिन्न संस्कृति इन दिनों विकसित हो रही है। परन्तु मध्यमवर्गीय साहित्य की तुलना में दलित और आंचलिक साहित्य का अनुवाद बहुत चुनौती पूर्ण होता है। क्योंकि दलित और आंचलिक जीवन शैली अपनी मिट्टी से, स्थानिक संस्कृति से गहरे रूप में जुड़ी हुई होती है। मैं तो इस मत का हूँ कि श्रेष्ठ आंचलिक साहित्य अनुवाद कविता की तरह सम्भव नहीं है और अगर हो भी जाए तो लेखक की मूल संवेदना तक पहुँचना कठिन है। क्योंकि आंचलिक साहित्य में नायकत्व अंचल को ही प्राप्त हो जाता है और वह अँचल वहाँ की बोली में ही जीवंत हो उठता है। आंचलिक साहित्य की पूरी ताकद उस अँचल वहाँ की बोली में ही जीवंत हो उठता है। आँचलिक साहित्य की पूरी ताकद उस अँचल की भाषा होती है। आँचलिक साहित्य का अनुवाद अगर करना ही है तो लक्ष्य भाषा की किसी बोली में किया जाना चाहिए। बोली में लिखे गए साहित्य का अनुवाद दूसरी मानक भाषा में करने का अर्थ ही है मूल संवेदना पर आघात करना। मुझे हिन्दी की एक भी बोली नहीं आती और इसीलिए मैं मराठी की किसी आंचलिक रचना का अनुवाद नहीं कर सकता। ठीक इसी तरह हिन्दी की किसी आंचलिक रचना का मैं मराठी में अनुवाद करना नहीं चाहता क्योंकि मैं मराठी की किसी बोली को नहीं जानता।

दलित साहित्य की स्थिति इससे भिन्न है। दलित साहित्य की कुछ रचनाएँ भले ही बोली भाषा में लिखी गई हों तो (आठवणीये पक्षी—प्र.ई. सोनकांबले, अनुवाद—यादों के पंछीः राधाकृष्ण प्रकाशन, अनुवादक : डॉ. रणसुभे) भी यहाँ अँचल का इतना अधिक महत्त्व नहीं होता। यहाँ महत्त्व होता है विषम समाज-रचना का, उस कारण होने वाले अन्यायों का, दलित होने के कारण आयी हुई भयानक यातनाओं का। इनकी ओर लेखक अपने पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। मनुष्य की मनुष्य के रूप में होने वाली उपेक्षा अथवा मनुष्य की ओर मनुष्य के रूप में देखने की उदारमतवादी मानवीय दृष्टि—यही यहाँ की महत्त्वपूर्ण संवेदना होती है। अँचल को उसकी सारी विशेषताओं के साथ प्रस्तुत करना यह लेखक का उद्देश्य नहीं होता। इस मनुज-विरोधी व्यवस्था में केवल जाति या वर्ण के कारण मनुष्य कैसे नकारा जाता है—इसे वह स्पष्ट करना चाहता है। दलित साहित्य के अनुवाद के लिए यहाँ की व्यवस्था के सारे आयामों की जानकारी जरूरी है। दलित साहित्य में जिन वस्तुओं का, उन वस्तुओं के अंग-उपांगों का जो वर्णन आता है, उसकी जानकारी सवर्णों को और उनके द्वारा उपयोग में लाई जाने वाली मानक भाषा को नहीं होती। शब्दकोश में भी इसके अर्थ प्राप्त नहीं होते। क्योंकि शब्दकोशों को भी इन्हीं तथाकथित सवर्णो ने ही बनाए हैं। इन पारंपरिक शब्दकोशों में सभी वर्णों, और

विभिन्न जातियों द्वारा प्रयुक्त वस्तुओं के नाम होंगे ही इसकी गारंटी नहीं है। इन शब्दकोशों में मध्यवर्ग द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले शब्दों की ही भरमार होती है। ऐसी स्थिति में अनुवादक क्या करेगा? जैसे प्र. ई. सोनकांबले जी की आत्मकथा—आठवणीये पक्षी (जिसका मैंने हिन्दी में यादों के पंछी शीर्षक से अनुवाद किया है, जिसे राधाकृष्ण प्रकाशन ने 1983 में प्रकाशित किया) में ऊंट और ऊंट से संबंधित अनेक मराठी शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये मराठी शब्द मध्यवर्गीय मराठी भाषिकों के लिए भी अपरिचित हैं। ऐसे समय इनके अनुवाद कहाँ से प्राप्त करें? हो सकता है राजस्थानी बोलियों में इनके प्रतिशब्द हो। हिन्दी की बोलियों में प्रयुक्त शब्दों के कोश भी नहीं हैं। अवधी-हिन्दी, बुन्देलखंडी-हिन्दी, राजस्थानी-हिन्दी आदि। कहना है कि दलित या आंचलिक साहित्य में अनुवाद के समय शब्दकोशों की सीमाओं का तीव्रता से अहसास हो जाता है। ऐसी स्थिति में अनुवादक को चाहिए कि वह सीधे उस व्यवसाय से संबंधित लोगों तक पहुँचे। दोनों भाषाओं के लोक समूह में जाकर जीवन भाषा की खोज उसे करनी चाहिए। वहीं पर उसे प्रतिशब्द मिलने की संभावना है। दलित साहित्य के अनुवाद के समय मैं जीवन्त भाषा की ओर (अर्थात् उस व्यवसाय से संबंधित लोगों के पास) गया। मुझे आवश्यक शब्द प्राप्त हुए और इसी कारण मैं लेखक की मूल संवेदना को न्याय दे पाया। दलित साहित्य के अनुवाद का अर्थ है भयावह ऐसी यातना से गुजरना।

मात्र संस्कृति ही नहीं भूगोल भी

मात्र संस्कृति की सूक्ष्म जानकारी से बात नहीं बनती। लक्ष्य भाषा बोलने वाला समाज जिस भौगोलिक परिसर में जीता है, उसकी जानकारी की भी जरूरत होती है। क्योंकि विशिष्ट ऐसी भौगोलिक रचना से ही शब्द सम्पदा तैयार होती रहती है। उस शब्द के मूल अर्थ तक जाना हो तो, वहाँ के भूगोल की भी जानकारी होना जरूरी है।

जैसे : कश्मीरी भाषा अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में अधिक समृद्ध नहीं है। परन्तु इस कश्मीरी भाषा में बर्फ के विविध रूपों के लिए कम-से-कम 14-15 शब्द हैं—ऐसा भाषावैज्ञानिक डॉ. हरदेव बाहरी जी का कहना है। वहाँ बर्फ के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं, इस कारण इनमें अधिक शब्द हैं। अब अगर किसी उत्कृष्ट कश्मीरी में बर्फ के लिए अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग संदर्भों में बर्फ के 5-6 रूपों का 5-6 अलग-अलग शब्दों में प्रयोग हुआ हो तो हिन्दी या मराठी का अनुवादक इनका अनुवाद कैसे करेगा? क्योंकि इन दोनों भाषाओं में बर्फ के लिए दो या तीन शब्द है। अथवा समुद्र और समुद्र से संबंधित ढेरों शब्द मराठी में प्राप्त हैं। कोंकणी में और अधिक हैं। बंगाली-उड़िया में भी हैं। हिन्दी प्रदेश को समुद्र नहीं है इस कारण हिन्दी में समुद्र से संबंधित शब्दों की कमी है। ऐसी स्थिति में समुद्र से संबंधित भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग किसी कहानी या उपन्यास में हुआ हो तो उसका हिन्दी अनुवाद करते समय इन शब्दों को प्रतिशब्द कहाँ से देंगे? पहाड़ों पर रहने वालों की भाषा में प्रयुक्त

शब्दावली तथा मैदानी प्रदेश में रहने वालों की भाषा में प्रयुक्त शब्दावली भिन्न ही होंगी। भले ही भाषा एक हो, तो भी उसमें वैविध्य होगा। ऐसी अवस्था में अनुवादक इन शब्दों को विकल्प कैसे देगा? कहाँ से देगा? एक विकल्प उसके समुख यह है कि उस मूल शब्द को लक्ष्य भाषा में रूढ़ किया जाए। इसके लिए फुटनोट दिया जाए अर्थात् उस शब्द के अर्थ को समझाया जाए। धीरे-धीरे ऐसे शब्द उस भाषा में रूढ़ हो जाएँगे और वह भाषा समृद्ध होती जाएगी। अँग्रेजी के अनेक शब्दों को हमने भारतीय भाषाओं में रूढ़ कर दिया है। कुछ को तोड़ मरोड़कर अर्थात् तद्भव रूप बनाकर और कुछ को मूल रूप में; तत्सम रूप में।

इस संबंध में मैं एक उदाहरण दूँगा। मराठी दलित आत्मकथाओं में से एक बड़ी चर्चित आत्मकथा डॉ. शरण कुमार लिंवाले जी की 'अक्करमाशी' है। इसका हिन्दी अनुवाद करते समय मेरे सम्मुख प्रश्न था कि अक्करमाशी शब्द का अनुवाद किस तरह किया जाए? मराठी भाषिक संस्कृति में अक्करमाशी इस शब्द को जो अर्थ प्राप्त है, उसी अर्थ में प्रयुक्त अथवा उसके आस पास का अर्थ देने वाला शब्द मुझे हिन्दी में मिल नहीं रहा था। हिन्दी के अनेक कवि-लेखक मित्रों से इस संबंध में मैं पूछताछ करता रहा, विभिन्न शब्द मुझे सुझाए गए (उनमें एक शब्द दुसाध था-जो कि एक जाति है।) परन्तु उन शब्दों द्वारा वह आशय नहीं निकल रहा था जो अक्करमाशी शब्द में निहित है। इस एक शब्द के अनुवाद हेतु कई दिनों तक मैं रुका रहा। दो भिन्न वर्णों के (स्त्री दलित-पुरुष सवर्ण) संबंधों से संतान का जन्म हिन्दी प्रदेश में भी होता होगा, ऐसी संतानों की ओर समाज उपेक्षा से देखता होगा, परन्तु इन्हें सम्बोधन हेतु कोई शब्द नहीं—ऐसा तो संभव नहीं है। जिस दुसाध का विकल्प सुझाया जा रहा था, वह तो एक जाति है। मराठी में प्रयुक्त अक्करमाशी का जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है। मराठी में यह हीनता दर्शक शब्द है। जब मुझे ठीक से कोई विकल्प मिल नहीं रहा था, तब मैंने अक्करमाशी यह शब्द हिन्दी में रूढ़ कर दिया और मैं यह पूरी विनम्रता से स्पष्ट करना चाहूँगा कि हिन्दी में यह शब्द चल पड़ा। इसके अलावा मुम्बई के कारण कई मराठी शब्द हिन्दी की बोलचाल की भाषा में और सृजनात्मक भाषा में भी रूढ़ हो गए हैं। उदा : खोली (कमरा) वह मुम्बई में खोली करके रहता है।

20-25 वर्षों पूर्व हिन्दी में 'बाई' शब्द का अर्थ होता था वेश्या, रंडी। मराठी में इसके ठीक उलटे बाई का अर्थ होता है, आदरणीय स्त्री। इस कारण कोई मराठी व्यक्ति आज से 30-35 वर्षों पूर्व पूरी निष्पाता के साथ किसी स्त्री को 'बाई' शब्द से सम्बोधित करता तो मारपीट की नौबत आ जाती। राजस्थानी में 'बाई' मराठी के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। परन्तु इलाहाबाद-लखनऊ अर्थात् मानक हिन्दी प्रदेश में इसे 'कोठे वाली' 'वेश्या' के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। अब हिन्दी से मराठी में अनुवाद करते समय 'बाई' शब्द के लिए बाई शब्द का ही प्रयोग क्या औचित्यपूर्ण होगा? अथवा मराठी से हिन्दी में अनुवाद करते समय क्या इसी

प्रकार का प्रयोग उचित रहेगा? सन्दर्भों के कारण बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है, यह सही है परन्तु पहली ही भेंट में अगर इस शब्द का प्रयोग हो तो क्या करेंगे ?

दो भिन्न भाषिक समाज रचना की संस्कृति में जितना अधिक अंतर होगा, अनुवाद उतना ही कठिन हो जाएगा। इसके ठीक उलटे इन दोनों की संस्कृति में जितनी अधिक समानता मिलेगी, अनुवाद आसान हो जाएगा। दो भाषाओं की संस्कृति में भले ही समानता दिखलाई दे रही हों तो भी कई स्थानों पर सांस्कृतिक दूरियाँ भी होती हैं। जैसे : एक ही भाषा बोलने वाले सवर्णों और दलितों के सांस्कृतिक जीवन में काफी अन्तर होता है।

आत्मीयता और प्रेम को व्यक्त करने के लिए प्रत्येक भाषिक समूह में अलग-अलग शब्द होते हैं। ऐसी स्थिति में केवल उन शब्दों के विकल्प अथवा पर्यायवाचक शब्द देकर काम नहीं चल सकता और इसी कारण जो रचनाएँ अपनी स्थानिक भाषा-संस्कृति से गहरे में जुड़ी रहती है, उनका शब्दशः अनुवाद करने के चक्कर में प्रतिभा सम्पन्न लोग नहीं जाते। ऐसी उत्कृष्ट रचनाओं का वे अनुवाद नहीं करते, रूपान्तरण करते हैं। अर्थात् अपनी संस्कृति के अनुकूल उसका पुनरसृजन करते हैं। प्रत्येक को यह सम्भव नहीं होता। साधारणतया ऐसी स्थिति में शब्दों के पर्यायवाची शब्द ढूँढ़ते बैठने के बजाए पहले उसका आशय जान लें और आशय के अनुरूप शब्दों का प्रयोग किया जाए।

ड्राईंगरूम की भाषा, बेडरूम की भाषा तथा रसोईघर की भाषा

'घर' यह संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है। एक ही घर के विभिन्न कमरों में जो वार्तालाप होता है, उसका स्वरूप भी भिन्न-भिन्न होता है। बैठक अर्थात् ड्राईंगरूम की तथा सोने के कमरे की (बेडरूम) भाषा का अनुवाद आसान होता है। परन्तु रसोईघर की भाषा का अनुवाद सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण होता है। क्योंकि वहाँ प्रयुक्त वस्तुओं के नामों में अत्याधिक वैविध्यता होती है। इन वस्तुओं के लिए प्रयुक्त शब्द शब्दकोशों में भी नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में अनुवादक को चाहिए कि लक्ष्य भाषा जिनकी मातृभाषा है ऐसों के रसाईघर में जाकर स्त्रोत भाषा में प्रयुक्त वस्तुएँ बतलाकर उनके लिए उनकी भाषा में किन शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इसकी जानकारी ली जाए। यह वास्तविकता है कि हिन्दी और मराठी कथा-साहित्य में रसोईघर का चित्रण बहुत कम हुआ है। मध्यवर्ग की मुख्य संवेदना 'भूख' नहीं है। मध्यवर्ग को केन्द्र में रखकर लिखे गए साहित्य में ड्राईंगरूम और बेड़रूम ही अधिक आया है। दलित साहित्य की मूल संवेदना 'भूख' है और इस कारण वहाँ चुल्हा और चूल्हे से संबंधित शब्दों का, रसोई बनाने की पद्धति का काफी वर्णन हुआ है। एक अन्य वास्तविकता को भी हम मध्यवर्ग जान लें। जिस घर में बैठक, रसोई तथा सोने के लिए अलग-अलग कमरे हों वहाँ प्रयुक्त होने वाली भाषा तथा जहाँ एक ही कमरे में सभी कार्य चलते हों– वहाँ की भाषा में निश्चित ही गुणात्मक अंतर होगा। जहाँ सब कुछ एक स्थान पर होता है, वहाँ भाषा अधिक सूक्ष्म, व्यंजना परक होगी। दलित जीवन में झोपड़ी ही केन्द्र में है अथवा एक कमरा। मुम्बई की झोपड़पट्टी में

अथवा चाल में अथवा एक कमरे में दिनभर की तथा रात की सारी विधियाँ पूरी की जाती हैं। ऐसे चित्रण का अनुवाद करना बहुत चुनौती पूर्ण होता है।

'घर' के बाहर की दुनिया

प्रत्येक व्यवसाय में शब्दों का जो प्रयोग किया जाता है, उसे ध्यान पूर्वक सुनने से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। शब्द वही पर व्यवसाय बदला कि अर्थ भी बदला। अपनी जरूरत के अनुसार लोकमानस शब्दों को अर्थ देते रहता है। उसी कारण सन्दर्भ के अनुसार एक ही शब्द का अर्थ एक स्थान पर एक तो दूसरे स्थान पर दूसरा होता है। इसका अहसास अनुवादक को रखना पड़ता है। एक ही शब्द के लिए एक-एक पर्याय तथा दूसरे स्थान पर दूसरा पर्याय देना पड़ता हे। उदाः मराठी में 'लाव' शब्द का एक स्थान पर अर्थ बन्द करना होता है। (फाटक लाव) तो दूसरे स्थान पर 'खोलना' होता है। (लाईट लाव) घर की चार दिवारी में किसी शब्द का एक अर्थ होता है, घर के बाहर उसका दूसरा ही अर्थ होता है। बहुत सूक्ष्मता से देखें तो प्रत्येक परिवार की अपनी भाषा होती है। जैसे पिता को संबोधन करने हेतु जिस शब्द का प्रयोग घर में होता है, उसमें इतनी विविधता होती है कि पाठक चकरा जाए। पिछले को एक दशकों से 'मम्मी' 'पापा' ये शब्द मध्यवर्ग में और देहातों में रूढ़ होते जा रहे हैं। परन्तु इसके पूर्व पिताजी के लिए चाचा, बाबा, सर, साहब, ताऊ, आदि अलग-अलग शब्दों का प्रचलन हुआ करता था।

हिन्दी में संयुक्त परिवार का प्रचलन होने से नाते-रिश्तों के इतने शब्द प्रचलित हैं कि उन्हें अन्य भाषा में जहाँ संयुक्त परिवार की परम्परा नहीं है—अनुवाद करना कठिन है। महाराष्ट्र में संयुक्त परिवार का विघटन होकर लंबा अर्सा हुआ। अपवाद रूप में आज भी यहाँ संयुक्त परिवार हैं। वहाँ भी इतने नाते-रिश्तों के शब्दों का प्रचलन नहीं है। चाचा के लिए एक ही शब्द है काका-चाहे वह पिताजी से बड़े हों या छोटे।

किसी भी समाज की जीवन-शैली में जब परिवर्तन होने लगता है और यह परिवर्तन मूल्य-व्यवस्था के साथ जुड़ा हुआ हो तो उसका सीधा असर व्यावहारिक भाषा पर होता है। पुरानी व्यवस्था के सैकड़ों शब्द लुप्त होने लगते हैं और नई जीवन-शैली के दर्जनों शब्द मुक्त रूप से व्यवहार में आते हैं। एक अनुवादक की परेशानी तब होती है जब वह यह महसूस करता है कि लक्ष्य भाषा में जो जीवन चित्रित है उसके मूल में जो जीवन-शैली और मूल्य व्यवस्था है, वह स्त्रोत-भाषा में चित्रित जीवन-शैली और मूल्य व्यवस्था से भिन्न है। परिणायतः लक्ष्य भाषा में वह उन शब्दों को विकल्प नहीं दे पाता। फुट नौट्स देकर संवेदना पहुँचानी पड़ती हैं। फुटनोट्स की जरूरत महसूस करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सृजनात्मक साहित्य के अनुवाद में फुटनोट्स आस्वाद की प्रक्रिया में बाधा पहुँचाते हैं। चांवल में कंकड की तरह अथवा खीमें में हड्डी की तरह।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा और संस्कृति का अत्यंत निकट का संबंध होता है और इसी कारण अनुवादक को दोनों ओर की संस्कृति की गहरी जानकारी चाहिए। यह स्थिति मात्र सृजनात्मक साहित्य के संदर्भ में नहीं अपितु वैचारिक साहित्य के संदर्भ में भी सही है। वैचारिक साहित्य के अनुवाद से संबंधित एक अन्य प्रकरण में इस पर विस्तार से चर्चा की गई है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर दें कि विज्ञान विषयक लेखों, पुस्तकों या अनुसंधानों के अनुवाद चुनौतीपूर्ण नहीं होते। क्योंकि विज्ञान की अपनी भाषा नहीं होती। विज्ञान के चिह्नों और प्रतीकों का ही खेल होता है। चिह्न और संबंधित विषय के स्पष्टीकरण हेतु तैयार की गई शब्द रचना अर्थात् अवधारणा (तथा पारिभाषिक शब्दावली) को एक बार ठीक से आत्मसात कर लेने के बाद उसे किसी भी भाषा में ले जाना सरल होता है। आश्चर्य इस बात का है कि हमारे यहाँ पर समझा जाता है कि विज्ञान का अनुवाद सर्वाधिक कठिन और चुनौती पूर्ण है। जिस शास्त्र में और ज्ञान-व्यवहार में प्रत्येक शब्द का अर्थ पहले से निर्धारित किया गया है, वहाँ अनुवाद कठिन नहीं होता। एक बार पारिभाषिक शब्दावली गढ़ लेने के बाद उस शब्दावली के आधार पर अनुवाद आसान होता है। अनुवाद वहाँ चुनौतीपूर्ण होता है जहाँ एक शब्द अपने साथ अनेक अर्थ लेकर आता है। एक ही शब्द की अनेक अर्थछटाएँ होती हैं। शब्दों का ऐसा प्रयोग 'कविता' में होता है इसीलिए विश्वभर में काव्यानुवाद सर्वाधिक कठिन माना गया है। विज्ञान की भाषा तकनीकी भाषा होती है, पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग वहाँ सर्वाधिक होता है। उन शब्दों को जिसने रचाया बनाया वही उसका अनुवाद कर सकता है। जैसे सृजनात्मक साहित्य का सम्बन्ध संवेदनशील मन के साथ होता है, वैसे विज्ञान का संबंध, बौद्धिक जगत के साथ होता है। दोनों के अपने भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं। आम आदमी की भाषा में इसकी अभिव्यक्ति संभव ही नहीं है। विज्ञान और कानून-दोनों की भाषा में प्रत्येक शब्द का एक निश्चित अर्थ तय होता है। वहाँ दूसरे शब्द के प्रयोग की संभावना ही नहीं होती। ऐसे शब्द जो अपने भीतर से निश्चित अर्थ की ओर संकेत कर रहे हों। इस प्रकार की तकनीकी शब्दावली यह उनकी नियति है। ऐसी भाषा आम आदमी अथवा शिक्षित मध्यवर्गीय की समझ में तुरन्त नहीं आती। हमारे यहाँ ऐसी भाषा के विरोध में अक्सर हो-हल्ला मचाया जाता है। भाषा के सरलीकरण पर लेख भी लिखे जाते हैं। जो क्षेत्र विशेषज्ञों का होता है, वह क्षेत्र सबकी समझ के दायरे में आए—ऐसा आग्रह ही अवैज्ञानिक है।

विज्ञान के लेखों/पुस्तकों के अनुवाद का कार्य भी विशेषज्ञों का क्षेत्र है। केवल दो भाषाओं पर मेरा असाधारण अधिकार है इसलिए मैं इन भाषाओं में लिखे किसी भी विषय की रचना का अनुवाद कर सकता हूँ, इस मुगालते में रहना नहीं है। साहित्य के केन्द्र में मनुष्य-जीवन है, मूर्त जीवन है, इसलिए इसका अनुवाद सरल संभव है। परन्तु अमूर्त का अनुवाद

उस विषय के विशेषज्ञ को ही करना चाहिए। विज्ञान, कानून अथवा इसी प्रकार के विषय-आम आदमी की सुख सुविधा के लिए ही प्रयत्नशील होते हैं। परन्तु आम आदमी की भाषा से उनका काम नहीं चल पाता। विज्ञान का संबंध संस्कृति के साथ नहीं होता अमूर्त चिन्तन के साथ होता है। सृजनात्मक साहित्य का संबंध संस्कृति के साथ होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सृजनात्मक साहित्य का संबंध 'मनुष्य' और 'उसके द्वारा निर्मित व्यवस्था' के साथ (घर, परिवार, समाज, प्रदेश, राष्ट्र) होता है। मनुष्य और उसकी व्यवस्था को संस्कृति से भिन्न किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य के साथ संपर्क करने हेतु जिस भाषा का निर्माण मनुष्य ने किया है, वह संस्कृति की ही उपज है। इसलिए प्रत्येक शब्द अपने साथ अपनी जन्मपत्रिका लेकर आता है। प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. देवीसिंह चौहान अक्सर कहा करते थे कि मनुष्य झूठ बोल सकता है, गलत इतिहास लिखा जा सकता है, परन्तु मनुष्य जिन शब्दों का प्रयोग करता है; वे शब्द कभी झूठ नहीं बोलते। वे अपने भीतर अपने इतिहास को लेकर आते हैं। भाषा विज्ञान में 'व्युत्पत्ति शास्त्र' इसी की खोज करते रहता है। इसी कारण अनुवादक को स्त्रोत और लक्ष्य भाषा—दोनों की संस्कृति से अच्छा खासा परिचय होना जरूरी है। विशेषतः जिस रचना का अनुवाद वह करने बैठा है, उस रचना में व्याप्त संस्कृति कौन-सी है, इसे जान लेना उसके लिए जरूरी है।

निकष-19, अजिंक्यव्हिला
अजिंक्य सिटी
अंबाजोगाई रोड, लातूर-413512
मो. 9423735393

मीडिया अनुवाद का पक्ष

—विवेक कुमार जायसवाल

अनुवाद क्या है, इस विमर्श में बिना उलझे ही यह स्वतः सिद्ध है कि अनुवाद को जिस भी तरीके से परिभाषित किया जाए, उससे अनुवाद की महत्ता तनिक भी कम नहीं होती। अनुवाद की बात आते ही सामान्यतः दो भाषाओं का परिदृश्य उभरता है। पहला, जिस भाषा में कोई 'टेक्स्ट' लिखा जा चुका है, और दूसरा, जिस भाषा में उस 'टेक्स्ट' को लिखा जाना है। अनुवाद का मूल अर्थ है—पुनः कथन या किसी के कहने के बाद कहना। अनुवाद एक दूसरे से अनजान भाषाओं को समीप लाता है और ज्ञान के अनेक द्वार भी खोलता है। अनुवाद के जरिए भाषाएँ ही समीप नहीं आतीं बल्कि अपरिचित भाषा-भाषी समाजों के बीच भी एक पुल का निर्माण होता है।

आधुनिक युग में संचार के नये साधनों ने अभिव्यक्ति के नए आयामों को खोला है। अनुवाद के माध्यम से अथाह साहित्य पाठकों के समक्ष तो उपस्थित ही हुआ है, लेकिन मीडिया की विभिन्न विधाओं में भी अनुवाद का खूब उपयोग किया गया है और इसे जनोपयोगी बनाया गया। हिन्दी के साथ-साथ अन्य भारतीय भाषाओं में मीडिया अन्तर्वस्तुओं का सृजन अनुवाद पर आधारित रहा है। ब्रिटिश शासन में प्रायः सभी काम अंग्रेजी में ही हुआ करते थे और अंग्रेजी समाचार एजेंसियों और पत्र-पत्रिकाएँ ही निकलती थीं। आजादी के बाद भी मीडिया संस्थान समाचारों के लिए अंग्रेजी समाचार एजेंसियों पर निर्भर रहते थे और एजेंसी से प्राप्त समाचारों का अनुवाद करते थे। आज भी यह काम लगभग हर समाचार-पत्र को करना पड़ता है। सर्वप्रथम सत्तर के दशक में 'हिन्दुस्तान समाचार' और 'समाचार भारती' ने हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में समाचारों को भेजना शुरू किया। आज भी देश की दो प्रमुख समाचार एजेंसियाँ—'यूनीवार्ता' और 'भाषा' अखबारों को हिन्दी में ही समाचार और अन्य सामग्री उपलब्ध कराती हैं। ऐसा नहीं है कि इन एजेंसियों के आने के बाद पत्रकारिता में अनुवाद का महत्त्व कम हो गया है बल्कि अनुवाद ने विस्तार पाया है। आज भी क्षेत्रीय और स्थानीय मीडिया संस्थानों में काम करने वाले पत्रकारों से पहली अपेक्षा यही रहती है कि उसे अनुवाद का ज्ञान है या नहीं। उसमें कम से कम दो भाषाओं की समझ और अभिव्यक्ति के कौशल का परीक्षण किया जाता है, जिसमें से एक भाषा अंग्रेजी ही होनी चाहिए। इससे यह भी पता चलता है कि मूल 'टेक्स्ट' पर अंग्रेजी का वर्चस्व आज भी है।

इस तरह की स्थिति केवल प्रिंट मीडिया में ही नहीं है बल्कि इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और इंटरनेट पर आधारित मीडिया में भी है। सभी चैनल और वेबसाईट यह प्रयास करते हैं कि वे ज्यादा से ज्यादा भाषाओं में अपनी सामग्रियां दर्शकों और पाठकों तक प्रस्तुत कर सकें जिसमें कम से कम हिन्दी और अंग्रेजी आवश्यक रूप से हों। इससे यह प्रमाणित होता है कि अनुवाद का महत्त्व और उसकी जरूरत तनिक भी कम नहीं हुई बल्कि इससे अनुवाद की भूमिका में नये आयाम जुड़े हैं। फिल्म और वृत्त चित्र के क्षेत्र में अनुवाद का महत्त्व किसी से छिपा हुआ नहीं है। विभिन्न भाषाओं में बनी फिल्में, धारावाहिक और मनोरंजन की अन्य सामग्रियां दूसरी अन्य भाषाओं में अनुवाद के माध्यम से प्रसारित हो रही हैं। भूमंडलीकरण और सूचना विस्फोट के युग ने अनुवाद के संसार का विस्तार किया है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि अनुवाद ने ही भूमंडलीकरण की अवधारणा को साकार करने में अद्वितीय भूमिका निभाई है।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पत्रकारिता में अनुवाद की जरुरत इस बात को रेखांकित नहीं करता कि अनुवाद ही पत्रकारिता है। पत्रकारिता और अनुवाद दोनों अलग-अलग विधाएं और दोनों के अपने-अपने नियम हैं। एक पत्रकार को पत्रकारिता और अनुवाद दोनों की मर्यादाओं का ध्यान रखना पड़ता है। प्रस्तुत आलेख में पत्रकारिता में अनुवाद की प्रमुख प्रवृत्तियों और प्रविधियों को देखे जाने का प्रयास है।

अनुवाद के बारे में एक दृष्टिकोण यह है कि अनुवाद बहुत सरल कार्य है जिसमें केवल एक भाषा में लिखे गये शब्दों को दूसरी भाषा में उतार देना होता है। दूसरी धारणा यह भी है कि एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद संभव ही नहीं है। यह बात काफी हद तक ज्यादा तर्कसंगत भी लगती है क्योंकि साहित्य, दर्शन, समाज शास्त्र और सांस्कृतिक विश्लेषण से संबंधित साहित्य का अनुवाद एक दुरूह कार्य है। इसका मुख्य कारण है कि हर भाषा की अपनी एक अलग व्यवस्था होती, अपना एक अलग व्याकरण होता है और उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संदर्भ भी अलग होते हैं। ऐसे साहित्य को लिखे जाने का परिवेश उस भाषा-भाषी समाज के परिवेश से बिलकुल भिन्न होता है जिसमें उसका अनुवाद किया जाना है। लेकिन फिर भी अनुवाद के माध्यम से पाठक को मुख्य संदेश और आनंद की अनुभूति तक पहुंचाया जा सकता है। व्यावहारिक तौर पर अनुवादों का वर्गीकरण शब्दानुवाद, भावानुवाद और सारानुवाद के तौर पर किया जा सकता है।

शब्दानुवाद में यह प्रयास किया जाता है कि मूल भाषा के प्रत्येक शब्द और अभिव्यक्ति की सभी इकाइयों को मूल भाषा में निहित भावों के साथ संप्रेषित की जाए। अभिव्यक्ति की सभी इकाइयों का आशय मूल भाषा के सभी पदों, पदबंधों, मुहावरों, लोकोक्तियों, वाक्यों और उपवाक्यों से है। इसमें अनुवादक द्वारा स्वयं की तरफ से कुछ जोड़े जाने की गुंजाइश नहीं होती है। यह विधि ऐसे साहित्यों के अनुवाद के लिए उपयुक्त मानी जाती है जिसमें तकनीकी पक्ष ज्यादा हों। जैसे— विज्ञान, गणित, ज्योतिष, कानून आदि।

भावानुवाद में शाब्दिक अर्थों और विचारों पर बहुत जोर न देकर समूचे टेक्स्ट की मूल भावना या भाव पर अधिक ध्यान दिया जाता है। इससे अनुवाद के मूल टेक्स्ट को समझाने में सहजता होती है। यह प्रवाहपूर्ण भी होता है लेकिन इसमें महत्त्वपूर्ण शब्दों, पदों आदि की उपेक्षा नहीं की जाती। पत्राकारिता में इस तरह का अनुवाद ज्यादातर प्रयोग में लाया जाता है।

सारानुवाद में टेक्स्ट का संक्षिप्तीकरण होता है। इस तरह का अनुवाद तब होता है जब भाषण, संगोष्ठी और वाद-विवाद में मूल टेक्स्ट का संक्षिप्त रूप या सारांश का उपयोग किया जाता है। इसमें सरलता और स्पष्टता अधिक होती है।

पत्रकारिता में आवश्यकता और अवसर के अनुसार कई तरह के अनुवाद की जरूरत पड़ती है। जैसे मूल पाठ की अभिव्यक्ति, तथ्य और सूचनाओं का अनुवाद, संस्कृति से संबंधित अनुवाद, और सृजनात्मक साहित्य का अनुवाद। पत्रकारिता में अनुवाद इन्हीं चार कोटियों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि एक पत्रकार को हर तरह के अनुवाद के लिए तैयार रहना होता है। उसे तमाम विषयों की विशेष जानकारी न भी हो तो सामान्य ज्ञान और भाषा पर अधिकार होना चाहिए। इससे वह न केवल अनुवाद कर पायेगा बल्कि इससे समाचार तत्त्व को पहचानने, उसकी उपयोगिता और प्रासंगिकता की पहचान करने में मदद मिलेगी। इसके लिए उसे विभिन्न क्षेत्रों की प्रमुख प्रवृत्तियों और घटनाओं की जानकारी भी होनी चाहिए।

पत्रकारिता का उद्देश्य अपने पाठकों को समाज में चारों तरफ हो रही घटनाओं, प्रवृत्तियों, नवीन शोध कार्यों, प्रगति और संभावित आशंकाओं और खतरों की जानकारी देना है। उन्हें प्रभावित करने वाले घटनाओं और मुद्दों का विश्लेषण भी पत्रकारिता का कर्तव्य है। एक पाठक, नागरिक, समाज की इकाई के रूप में एक व्यक्ति को जो भी कुछ जानना चाहिए, उसे प्रस्तुत करना पत्रकारिता का मुख्य लक्ष्य है। पत्रों के वर्गीकरण और स्वरुप में काफी भिन्नताएँ पाई जाती हैं और उनकी जरूरतें अलग होती हैं। स्थान, प्रसार संख्या, पाठक वर्ग की आवश्यकता आदि के आधार पर समाचारों का चयन, लेखन और प्रस्तुतीकरण किया जाता है। ऐसे में जब कोई पत्रकार या उपसंपादक एजेंसियों द्वारा प्राप्त समाचारों का पुनर्लेखन या अनुवाद करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु तैयार कर रहा हो तो उसे कुछ नियमों को ध्यान में रखना चाहिए।

समाचार का सामान्य नियम है कि वह तभी सार्थक माना जाएगा जब उसमें कब, कहाँ, क्यों, कैसे और क्या का उत्तर परिलक्षित हो। समाचार बड़ा हो या छोटा, उसकी महत्त्वपूर्ण बातें शुरुआती पैराग्राफ में आने से उस समाचार के पढने के प्रति उत्कंठा बनी रहती है।

एजेंसी से प्राप्त समाचार भी तैयार किए गये समाचार होते हैं, लेकिन उपसंपादक उन समाचारों को संवाद, रूचि, आवश्यकता और विवेकानुसार काट-छांट कर सकता है। बड़े

समाचारों के आमुख में जानकारी का भंडार भर देने से भी वह बोझिल हो जाता है, इससे बचना चाहिए। आमुख को सहज, सरल और प्रभावपूर्ण रखने की कोशिश करनी चाहिए। एक समय था जब अनुवाद की अवधारणा शाब्दिक अनुवाद से ज्यादा जुड़ी हुई थी और भाषिक शुद्धता का आग्रह कहीं ज्यादा था। भाषिक शुद्धता के आग्रह में सरकारी अनुवाद कोशों ने काफी प्रभावित किया था लेकिन आज भाषिक शुद्धता का आग्रह लगभग खत्म होता जा रहा है। ट्रेन, सिगरेट और मोबाइल फोन के हिन्दी अनुवाद हंसी के पात्र भी बने। आज भी उनका अनुवाद प्रचलन में तो नहीं है लेकिन लोग उसे हिन्दी में बोलकर आनंद की अनुभूति करते हैं। इसके पीछे यही कारण है कि अनुवाद की यांत्रिक पद्धति का विकसित होना है। इसने हिन्दी को समझे जाने में नई जटिलताएं पैदा कीं और यह भ्रम पैदा हुआ कि हिन्दी एक जटिल भाषा है।

भाषा और पत्रकारिता को लेकर या समाज-संस्कृति-साहित्य से जुड़े अनुवादों को लेकर कोई मौलिक पद्धति नहीं विकसित की गई। पत्रकारिता में स्थानीयता को ध्यान में रखकर मौलिकता का कोई स्पेस नहीं छोड़ा गया। इसका कारण यांत्रिक अनुवाद की पद्धति ही रही है।

सूचना संसाधनों के तीव्र विकास ने अनुवाद की दुनिया को आज काफी बदला है। भाषा का लचीलापन बढ़ा है। इसका उदाहरण किसी भी तरह की मीडिया में हम देख सकते हैं। आज अखबारों में हिन्दी के साथ-साथ प्रचलित अंग्रेजी शब्दों की भरमार है। इंटरनेट पर मौजूद सामग्री हो, कार्टून हो, संगीत हो, धारावाहिक हो, सभी विधाओं में बहुभाषिकता का पुट दिखाई देता है। ट्रेन या रेल के लिए रेलगाड़ी, प्लाटून के लिए पलटन, बाईसाइकिल के लिए साइकिल आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनको हमने अपनी दिनचर्या में हिन्दी के ही रूप में शामिल कर लिया है और ये खूब प्रयोग किये जा रहे हैं बल्कि ये मूल रूप से हिन्दी के ही शब्द लगने लगे हैं। हमारी दिनचर्या में ऐसे तमाम शब्द शामिल हो चुके हैं जिनको हम हिन्दी के ही रूप में पहचानने और उपयोग करने लगे हैं। किचेन और कूलर ऐसे ही शब्द हैं। उदहारण के लिए— 'मेरा बच्चा अभी प्ले स्कूल में पढ़ता है'। 'मेरी बेटी प्ले ग्राउंड में खूब एन्जॉय करती है'। 'मेरी बुक में एक कहानी लिखी है'। ये ऐसे ही धड़ल्ले से प्रयोग हो रहे हैं।

दरअसल अनुवाद का पक्ष इस मायने में ज्यादा बड़ा है कि अनुवाद सरल, स्वाभाविक और बोलचाल के करीब हो। समूची मीडिया चाहे वह अखबार हों या अन्य तकनीकी माध्यम, सभी ने इस दृष्टि को पहचाना है। भाषा विज्ञान, वाक्य संरचना विज्ञान, व्याकरण और अनुवाद के यांत्रिक नियमों का पालन भले ही न हुआ हो लेकिन पाठक-दर्शक के लिए कोई भी मुद्रित और दृश्य सामग्री सहज, सरल और आसानी से ग्राह्य हो, अनुवाद इस पर ज्यादा केंद्रित है। एक तथ्य यह भी है कि मौलिक लेखन सच के ज्यादा करीब होता है। इसीलिए शब्दशः अनुवाद वह प्रभाव नहीं छोड़ पाते जैसा प्रभाव सृजनात्मक अनुवाद छोड़ते हैं। इसमें सम्पादन विवेक की सक्रियता काफी अहम् है। इसमें सम्पादक या उप सम्पादक प्रचलित भाषा, जरूरत और

वैचारिक पक्षधरता का ध्यान भी रखता है। इसलिए अखबार या कोई भी मीडिया अनुवाद के मानक सिद्धांतों से कहीं आगे निकलकर कार्य कर रहे हैं।

प्रचलित शब्दों के आधार पर तैयार किये जा रहे नए शब्दकोशों ने इसमें काफी भूमिका निभाई है लेकिन सिर्फ इनकी ही मदद पर्याप्त नहीं है। कई बार शब्दकोष को देखकर किए गये अनुवाद से अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। जैसे अंग्रेजी के शब्द 'मिनिस्ट्री' का अर्थ है 'मंत्रालय' अथवा 'मंत्रिमंडल'। यदि कोई पार्टी अपने घोषणापत्र में किसी नए 'मिनिस्ट्री' के निर्माण की बात करता है और शब्दकोश के अर्थ 'मंत्रिमंडल' को चुन लिया जाए तो अनर्थ ही होगा। इसलिए अनुवाद करते समय संदर्भ का समझा जाना भी बेहद आवश्यक है। पत्रकारिता के विभिन्न विषयों जैसे राजनीति, अर्थशास्त्र, खेल आदि के प्रचलित विशेष शब्दों और उनकी अंदरूनी क्रिया-प्रक्रिया में बारे में सामान्य समझ और उसके अनुसार प्रचलित शब्दों का चयन ही समाचार सामग्री को रोचक बना सकती है। लेकिन यह ध्यान रखा जाना जरूरी है कि उस विषय की विशेषज्ञता से जुड़े पक्षों के साथ अन्याय न हो।

सिनेमा का संसार अनुवाद के कारण बढ़ा है। क्षेत्रीय सिनेमा ही नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय सिनेमा भी अनुवाद के कारण ही जाना-पहचाना जाने लगा है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो या क्षेत्रीय सिनेमा हो, जब भी किसी नए तरह के सिनेमा की चर्चा होती है तो उन्हें देखने की जिज्ञासा दर्शकों में बढ़ जाती है। ऐसे में भाषा एक बाधा के रूप में आई जरूर लेकिन अनुवाद की भूमिका ने सिनेमा की व्याप्ति में मदद की। सिनेमा में दोनों तरह के अनुवाद हो रहे हैं- डबिंग और सब-टाईटलिंग। डबिंग में सृजनात्मकता का पुट ज्यादा होता है क्योंकि इसमें मूल पाठ को एक निश्चित समय-सीमा में और नाटकीयता के साथ बोला जाना होता है। यह सब टाईटलिंग की तुलना में ज्यादा संवादात्मक होता है। दर्शक वर्ग की बढ़ोत्तरी में इस प्रविधि का काफी योगदान है। हॉलीवुड ही नहीं बल्कि तमाम बॉलीवुड की फिल्में भी मूलतः अंग्रेजी में बन रही हैं और उनका हिन्दी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद हो रहा है। इसी तरह तमाम क्षेत्रीय भाषाओं में बन रही फिल्मों का हिन्दी और अन्य भाषाओं में अनुवाद हो रहा है। इनके डबिंग में जो मुख्य बात है वह है—अनूदित संवाद में मूल शब्द की भावना और अर्थ से तालमेल। मुख-भंगिमा और बोले गये संवाद में अंतर मूल फिल्म जैसा आनंद नहीं दे पायेगा। इसमें भी सृजनात्मकता का पक्ष जबरदस्त है। डबिंग के लिए भी शब्दशः अनुवाद वाली पद्धति काम नहीं आती। क्योंकि मुख-भंगिमा से तालमेल बिठाना संभव नहीं होगा। इसलिए डबिंग करते समय मूल पाठ का अनुसृजन किया जाता है और तभी डबिंग की जाती है। डिस्कवरी, नेशनल जियोग्राफी, हिस्ट्री तमाम ऐसे चैनल हैं जो अनुसृजनात्मक अनुवाद के जरिये समूचे विश्व में अपनी पैठ जमा चुके हैं। इसी तरह सब टाईटलिंग में भी तकनीक के पक्षों का ध्यान रखना पड़ता है। जैसे स्क्रीन पर दिखाया जाने वाला कोई संवाद यदि बहुत ज्यादा लंबा है तो उसको

दृश्य की अवधि के अनुसार छोटा करना पड़ेगा। इसमें भी सम्पादकीय विवेक और संदर्भ ज्ञान का होना आवश्यक है।

मीडिया के विविध क्षेत्रों में अनुवाद तमाम सहूलियतें भी देता है और कई बार तमाम बाधाएं भी पैदा करता है। एक तरफ अगर अनुवाद विज्ञान के मानक नियम बाधा पैदा करते हैं तो इसे सुलझाने का काम करता है अनुवादक का संदर्भ ज्ञान, उसकी सृजनात्माकता और उसका विवेक। इस प्रकार अनुवाद महज एक भाषा परिवर्तन का साधन या विज्ञान ही नहीं है बल्कि उससे कहीं आगे बढ़कर एक सृजनात्मक कार्य है। मीडिया के विविध क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को स्रोत भाषा और अनुवाद की भाषा दोनों के मर्म से परिचित होना चाहिए तभी वह अच्छा अनुवादक ही नहीं बल्कि उन भाषा-भाषी समाजों के राजनीतिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक परिवेशों के विषय विशेषज्ञ के रूप में भी उसका भविष्य उज्जवल हो सकता है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
संचार एवं पत्रकारिता विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संदर्भ –

1. पत्रकारिता में अनुवाद की समस्याएं, भोलानाथ तिवारी, जीतेन्द्र गुप्त, बी.के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा, नई दिल्ली
2. पत्रकारिता में अनुवाद, जितेन्द्र गुप्त, प्रियदर्शन, अरुण प्रकाश (सं.) रामशरण जोशी, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली

स्वाधीनता

(18 जून, 1935 को बीबीसी पर प्रसारित रेडियो वार्ता। द लिसिनर, 26 जून, 1935। फ्रीडम लंदन,1936 में पुनर्मुद्रित)

—जॉर्ज बर्नाड शॉ

हिन्दी अनुवाद : अभिषेक सक्सेना

वास्तव में स्वाधीन व्यक्ति कौन है? निःसंदेह वह व्यक्ति जो अपना मनचाहा काम जब चाहे, जहाँ चाहे कर सके और यदि चाहे तो कुछ भी ना करे। वैसे देखा जाये तो कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है और ना ही कोई कभी ऐसा हो सकता है। चाहे-अनचाहे हम सब अपने जीवन का लगभग एक तिहाई हिस्सा सोने, नहाने-धोने और साज-शृंगार में गवाँ देते हैं। प्रतिदिन हमारे कम-से-कम दो घंटे खाने-पीने में जाते हैं और कुछ समय यहाँ-वहाँ आने-जाने में। आधे दिन तो हम अपनी ऐसी जरूरतों के गुलाम हैं जिन्हें नजरंदाज करना नामुमकिन है फिर भले ही हम सैकड़ों नौकर-चाकर वाले राजा हों या फिर गरीब मजदूर जिनके पास नौकर तो नहीं सिर्फ बीवियाँ हैं। हालत यह है कि दुनिया में सृजन करते रहने के लिए इन बेचारी बीवियों को बच्चे पैदा करने की अतिरिक्त एवं कठोर गुलामी भी झेलनी पड़ती है।

हम इन नैसर्गिक दायित्वों से चाह कर भी बच नहीं सकते। सच तो यह है कि ये दायित्व अपने साथ अन्य जिम्मेदारियाँ भी लेकर आते हैं। मसलन यदि हमें पेट-पूजा करनी है तो पहले खाने की उपलब्धता सुनिश्चित करनी होगी या फिर सोना है तो घर में पलंग-बिस्तर, अंगीठी और कोयले का इंतजाम करना होगा; बाहर सड़क पर निकलना है तो तन ढकने को कपड़ों की जुगाड़ भी करनी पड़ेगी। रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था तो केवल मानव-श्रम से ही संभव है। आप इन्हें अपने पुरुषार्थ से उत्पादित कर सकते हैं या फिर चुरा भी सकते हैं। यदि आपको शहद पसंद है तो आप पहले मधुमक्खियों को अपने श्रम से इसे उत्पादित करने दें और फिर उनसे चुरा लें। यदि एक स्थान से दूसरे स्थान पैदल जाने में आपको आलस्य आ रहा है तो आप घोड़े को अपना गुलाम बना सकते हैं। सच तो ये है कि जैसा आपने मधुमक्खियों और घोड़े के साथ किया ठीक वैसा ही आप पुरुष या महिलाओं या बच्चों के साथ भी कर सकते हैं। इतना ही नहीं आप ताकत, धोखा या यह बरगलाकर कि आपके श्रीचरणों

में अपनी आजादी समर्पित करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है या फिर ऐसे ही किसी अन्य फरेब से उन पर हावी हो सकते हैं।

इसलिए सतर्क रहें ! यदि आप किसी व्यक्ति या समूह को अपने पर हावी होने का अवसर देते हैं तो वह अपनी सारी नैसर्गिक गुलामी आपके कंधों पर लाद सकता है। फिर होगा यह कि आपको मजबूरन आठ से चौदह घंटें काम करना पड़ेगा। यदि आपको केवल अपना और अपने परिवार का ही भरण-पोषण करना है तो आप इसके आधे या उससे कम समय काम करके भी अपने जरूरतों का इंतज़ाम आसानी से कर सकते हैं। क्यों ठीक कहा ना? सभी ईमानदार राजसत्ताओं का लक्ष्य आपके इस प्रकार के शोषण को रोकना होना चाहिए। परंतु अफसोस कि वास्तविकता में अधिकांश सरकारों का उद्देश्य इससे ठीक विपरीत है। राजसत्तायें आप पर स्वतंत्रता के नाम पर गुलामी थोपती हैं। वे आपके मालिकों के लालच को कुछ हद तक ध्यान में रखते हुए आपकी गुलामी को विनियमित भी करती हैं। जब नीग्रो की दास-प्रथा मजूरी-दासता से मँहगी पड़ने लगी तो उन्होंने दास प्रथा का उन्मूलन कर दिया और आपको एक रोजगार या दूसरे या फिर एक मालिक या दूसरे में से चुनाव की स्वतंत्रता दे दी। इसी को वे आज़ादी की महान जीत कहते हैं जबकि आपके लिए इसका कोई मोल नहीं। जब आप इस बात की शिकायत करते हैं कि इससे हमें क्या मिला? तो वे आपसे वादा करती हैं कि भविष्य में आप अपनी देश को स्वयं चलायेंगे। वे आपको वोट देने का अधिकार देंगे और आश्वस्त करेंगे कि प्रत्येक पाँच वर्ष में आम चुनाव कराये जायेंगे।

चुनाव में दो परस्पर विरोधी आपसे वोट मांगेगे, और आप उनमें से किसी एक को वोट देने के लिए स्वतंत्र हैं। सच तो यह है कि इस चुनाव में आप पहले से ज्यादा स्वतंत्र नहीं हैं क्योंकि इससे आपके श्रम के घंटों में एक मिनिट की भी कमी नहीं आने वाली। परंतु अखबार आपको भरोसा दिलायेंगे कि आपके वोट से ही चुनाव निर्णीत हुआ है, और इससे आप एक लोकतांत्रिक देश के स्वतंत्र नागरिक बन गए हैं। मज़ेदार बात तो यह है कि आप इतने भोले हैं कि उनकी बात पर यकीन भी कर लेते हैं।

अब आप प्रकृति के प्रति मनुष्य की नैसर्गिक गुलामी और मनुष्य की मनुष्य के प्रति अस्वाभाविक गुलामी में एक बड़े अंतर पर गौर करें। प्रकृति अपने गुलामों के प्रति दयालु है। यदि वह आपको खाने-पीने के लिए बाध्य करती है तो वह खाने-पीने को इतना मोहक बनाती है कि जब भी हमें मिल जाये हम खूब खा-पी लेते हैं। हमारा सोना भी जरूरी है अन्यथा हम पागल हो जायेंगेः फिर नींद इतनी मीठी भी है कि हमें सुबह उठने में बड़ी समस्या होती है। फिर अंगीठी की आँच और बीवी-बच्चों के सपने युवाओं को इतने सम्मोहक लगते हैं कि वे अपने सपने साकार करने के लिए शादी करते हैं और परिवार बढ़ाते हैं। इसलिए हम अपनी नैसर्गिक आवश्यकताओं के प्रति गुलामी का बुरा मानने के बजाय उनकी पूर्ति होने पर आनंद का अनुभव

करते हैं। हम उनकी प्रशंसा में रोमांटिक गीत लिखते हैं। कोई आवारा चाहे तो 'होम ! अवर स्वीट होम' जैसे प्रेमगीत गाकर भी अपना पेट पाल सकता है।

मनुष्य की मनुष्य के प्रति गुलामी इससे ठीक विपरीत है। यह शरीर और आत्मा दोनों के लिए ही घृणास्पद है। हमारे कवि भी इसका स्तवन नहीं करतेः वे उद्घोषित करते हैं कि कोई भी व्यक्ति इतना अच्छा नहीं कि वह दूसरे का मालिक बन सके। अंतिम महान यहूदी पैगंबर, एक सज्जन जिनका नाम मार्क्स है, ने अपना सारा जीवन यह विधान करने में लगा दिया कि यदि इसे कानूनन नहीं रोका गया तो इस स्वार्थी क्रूरता की ऐसी कोई चरम-सीमा नहीं है जहाँ मनुष्य की मनुष्य के प्रति गुलामी को रोका जा सके। आप स्वयं देख सकते हैं कि यह गुलामों और मालिकों के बीच एक ओर श्रमिक संघ और दूसरी ओर नियोक्ता महासंघ के बीच अविरत गृह युद्ध—वर्ग संघर्ष छेड़ता है। अभी हाल ही में संत घोषित किये गये संत टॉमस मूर कहते हैं कि यह समाज तब तक शांतिपूर्ण और स्थिर नहीं हो सकता जब तक दासता का उन्मूलन नहीं हो जाता और प्रत्येक व्यक्ति दुनिया के काम में अपने हिस्से का काम किसी और पर थोपने के बजाय अपने हाथों और मस्तिष्क से करने हेतु बाध्य नहीं हो जाता।

स्वाभाविक रूप से मालिक वर्ग अपनी संसद, विद्यालय और समाचारपत्रों के माध्यम से हमें अपनी गुलामी का अहसास होने से रोकने का भरपूर प्रयास करता है। कच्ची उम्र से ही हमें यह पढ़ाया जाता है कि हमारा देश स्वतंत्र है, यह स्वतंत्रता हमें अपने पुरखों के प्रयासों से तब मिली जब उन्होंने राजा जॉन को मैग्ना कार्टा पर दस्तखत करने पर मजबूर कर दिया—या जब उन्होंने स्पेन के जहाजी बेड़े को पराजित कर दिया—या जब उन्होंने राजा चार्ल्स का सिर धड़ से अलग कर दिया—या जब उन्होंने राजा विलियम को अधिकार पत्र को स्वीकार करने पर मजबूर कर दिया—या जब उन्होंने अमरीका की स्वतंत्रता की घोषणा की—या जब उन्होंने ईटन के मैदानों पर वाटरलू और ट्राफलगर जीत लिए—या कि जब उन्होंने कुछ दिन पहले ही यदृच्छया जर्मन, आस्ट्रियन, रशियन एवं ऑटोमन साम्राज्यों को गणराज्यों में बदल दिया।

जब हम शिकायत करते हैं तो हमें बताया जाता है कि हमारी सारी समस्यायें हमने खुद ही पैदा की हैं क्योंकि हमारे पास ही तो वोट का अधिकार है। जब हम कहते हैं कि 'वोट से हमें क्या फायदा?' हमसे कहा जाता है कि हमारे लिए कारखाना अधिनियम है, वेतन बोर्ड हैं, निःशुल्क शिक्षा है, न्यू डील है, बेरोजगारी भत्ता है किसी विवेकशील व्यक्ति को इससे ज्यादा और क्या चाहिए ? हमें यह तो याद दिलाया जाता है कि अमीरों पर उनकी कुल आमदनी का एक चौथाई-तिहाई—यहाँ तक कि आधा या उससे अधिक कर लगाया जाता है; परन्तु गरीबों को यह कभी याद नहीं दिलाया जाता कि उन्हें प्रतिदिन दुगुना काम करने पर अतिरिक्त मजदूरी का भुगतान भी किया जाना चाहिए क्योंकि वह अतिरिक्त घंटे उनके थे जिनमें वह स्वतंत्र रह सकता था।

जब कभी मशहूर लेखक—जैसे अठारहवीं शताब्दी में वॉल्टेयर, रूसो एवं टॉम पेन या उन्नीसवीं शताब्दी में कॉबेट एवं शैली, कार्ल मार्क्स और लेसेल या बीसवीं शताब्दी में लेनिन एवं ट्रॉटस्की इस अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाते हैं—तो आपको बताया जाता है कि वे नास्तिक, व्यभिचारी, कातिल और बदमाश हैं; और कई बार तो उनकी किताबों को खरीदना या बेचना दण्डनीय अपराध करार दिया जाता है। जब उनके अनुयायी विद्रोह करते हैं तो इंग्लैण्ड तत्काल उनपर युद्ध थोप देता है और अन्य सत्ताओं को विद्रोहियों के दमन हेतु पैसे उधार देता है ताकि दासता का यह क्रम पूर्ववत चलता रहे। जब यह गठजोड़ वाटरलू में सफल हुआ, तो इस विजय को ब्रिटिश स्वतंत्रता की एक और जीत के रूप में प्रचारित किया गया; और इन ब्रिटिश वेतनदासों ने लॉर्ड बायरन की तरह विलाप करने बजाय इस सारे प्रचार पर भरोसा किया और निर्लज्ज होकर उत्साहपूर्वक खुशी व्यक्त की। जब क्रांति की जीत होती है—जैसे रूस में 1922 में हुआ—तो युद्ध तो रुक जाता; परंतु दुर्व्यवहार, मिथ्या अभियोग, असत्य भाषण तब तक चलता रहता है जब तक कि क्रांतिकारी राज्य अव्वल दर्जे की सैन्य शक्ति नहीं बन जाता। तब वर्षों तक क्रांतिकारी नेताओं को सबसे घृणित खलनायक एवं अत्याचारी के रूप में दुष्प्रचारित करने के बावजूद हमारे राजनेताओं और कूटनीतिज्ञों को पाला बदलते हुए उन्हें रात्रिभोज पर आमंत्रित करना पड़ता है।

यद्यपि इन विलक्षण पाखंडी जनों का एक मात्र इरादा गुलाम जनता को बहकाना है, फिर भी वे मालिक वर्ग को पूरी तरह बहकाने में सफल होते हैं। ऐसे भद्रपुरुष जिनके मन-मस्तिष्क को भद्रजनों के बच्चों के प्राथमिक विद्यालयों, पब्लिक स्कूलों एवं विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में तैयार किया गया है, वे इन स्थानों पर पढ़ाये गए मिथ्या इतिहास, बेईमान राजनैतिक अर्थव्यवस्था एवं वर्ग-दंभ से अन्य कामगारों की अपेक्षा शीघ्रता से एवं अच्छी तरह प्रभावित हो जाते हैं। क्योंकि उनकी शिक्षा ने उन्हें यही सिखाया है कि वे बहुत शिष्ट और विशिष्ट हैं, और उन सामान्य लोगों से अलग है जिनका दायित्व अपने कपड़े धोना, बच्चों के स्कूल बैग लाने ले जाने के अलावा उनके लिए धन संपदा अर्जित करना है। इन भद्रजनों को खुद के बारे में गढ़े गए इस भ्रम पर पूरा यकीन है। वे पूरी ईमानदारी से इस बात को मानते हैं कि इस राजव्यवस्था ने ही उन्हें जीवन की इस सुखद स्थिति में पहुँचाया है और उनकी प्रतिभा के साथ सर्वोत्तम न्याय किया है इसलिए वे इस व्यवस्था की हिफाजत के अपने और आपके खून का एक-एक कतरा कुर्बान करना अपना धर्म समझते हैं। परन्तु हकीकत में सतायी हुई, कम मजदूरी पर काम करने को मजबूर, अधम समझी जाने वाली, और काम मिलने ना मिलने पर भाग्य भरोसे रहने वाली हमारी अधिसंख्य आबादी निश्चित ही ऐसा महसूस नहीं करती जैसा कि ये भद्रजन करते हैं। वस्तुस्थिति तो इससे और भी भयावह है। बुरे दौर में, जैसा कि अभी है, कभी-कभी यह तबका घृणा और तिरस्कार के वशीभूत हो नामोनिशान मिटाने, सबकुछ

उलट-पलट देने पर मजबूर हो जाता है। उन्हें इस गिरोहबंदी से बचाना होगा। इस काम को वही व्यक्ति अंजाम दे सकता है जिसमें नेतृत्व करने की नीयत हो, नेपोलियन सरीखी प्रतिभा हो और अवसर का लाभ उठाने लायक साहस व बुद्धि हो। परन्तु महारानी की जय हो, जय हो करने वाले गुलाम अपनी स्वतंत्रता के नाम पर बहुत हुआ तो केवल ब्रिटिश या अमरीकन मतपत्र पर ही सवाल उठा सकते हैं।

अभी तक मैंने केवल स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक तथ्यों का ही उल्लेख किया है। मैंने कोई निष्कर्ष नहीं दिया है क्योंकि ऐसा करने पर मैं विवाद में फंस जाऊँगा। ऐसी स्थिति में जब आपके पास मेरे सवालों का कोई जवाब ही नहीं है तो फिर विवाद करना व्यर्थ होगा। रेडियो पर मेरी छवि विवादित नहीं है। मैं तो आपसे भी किसी निष्कर्ष पर पहुँचने को नहीं कहूँगा क्योंकि यदि आपके पास इस बात को समझने के लिए पर्याप्त बुद्धि-विवेक नहीं है तो आप कोई भी खतरनाक निष्कर्ष निकाल सकते हैं। हमेशा याद रखें कि भले ही किसी को भी गुलाम कहलाना पसंद नहीं फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि अधीनता सवर्था एक बुरी चीज है। अरस्तू जैसे महापुरुषों का मानना है कि कानून-व्यवस्था एवं सरकार तब तक बेमानी व असंभव है जबतक कि वे खासजन (जिनकी आज्ञा का पालन आमजन को करना पड़ता है) सलीके से कपड़े पहनते, तैयार होते, गाउन और वर्दी पहनते, विशेष लहजे में बात करते, फर्स्ट क्लास या महंगी कार या अच्छी नस्ल के एवं ठीक तरह से पाले हुए घोड़ों पर यात्रा तो करते हैं परन्तु कभी ना तो अपने जूते खुद से साफ करते हैं और ना ही अपना कोई और काम। वे अपने ये सारे काम केवल घंटी बजाकर या आदेश देकर आमजनों से कराते हैं। वास्तव में इसका अर्थ यह हुआ कि उन्हें आम जनता के मनमस्तिष्क में देवतुल्य श्रेष्ठता की छवि गढ़ने के बजाय बिना किसी पूर्वाग्रह/अनुग्रह के स्वयं को दिल से बड़ा व अमीर बनाना होगा। संक्षेप में, यह दृढ़तापूर्वक कहा जाता है कि लोगों को आज्ञाकारी मजदूर एवं कानून का पालन करने वाला नागरिक बनाने के पूर्व आपको उन्हें मूढ़ मूर्तिपूजक बनाना होगा।

इसको सिद्ध करने के लिए हमें याद दिलाया जाता है कि यद्यपि 10 में से 9 वोटर साधारण मजदूर हैं, बमुश्किल ही उनमें से कुछ को अपने वर्ग को वोट देने के लिए राजी किया जा सकता है। जब महिलाओं को मताधिकार और संसद में बैठने का अधिकार दिया गया, तो उन्होंने अपने वोट का सर्वप्रथम प्रयोग मजदूरों की आजादी की आवाज उठाने वाली और उनके लिए समर्पित विशिष्ट सेवा देने वालीं तमाम महिलाओं को हराने के लिए किया। उन्होंने केवल एक महिला को चुना- अति मोहक व्यक्तित्व और अपार धन की स्वामिनी 'महारानी'।

ऐसा कहा जाता है कि यह तो मानव स्वभाव है, इसे बदला नहीं जा सकता। दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि यदि आप कच्ची उम्र से ही प्रयत्न करें तो दुनिया में मानव स्वभाव को बदलना सबसे सरल काम है, इसीलिए दास वर्ग की मूर्तिपूजा और मालिक वर्ग का दम्भ

पूर्णतया उस शिक्षा एवं प्रचार-प्रसार का कृत्रिम उत्पाद है, जिसे हमारे नौनिहालों पर उनके पालना छोड़ने से पहले ही थोप दिया जाता है। तर्क यह है कि इसके विपरीत शिक्षा एवं प्रचार-प्रसार से इसके विपरीत मानसिकता भी पैदा की जा सकती है। अब आप स्वयं अपने मन में इस पर विचार कर सकते हैं, आप इस बात पर मेरा समर्थन करेंगे या विरोध मैं इस झमेले में ही नहीं पड़ना चाहता।

इन सब बातों के मूल में जो व्यावहारिक प्रश्न है वह यह है कि दिन-प्रतिदिन सम्पूर्ण देश की आय को बेहतरीन ढंग से कैसे वितरित किया जा सकता है। यदि पृथ्वी के विशाल भूभाग को खेती के लिए मशीनों से जोता जाये, रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग किया जाये और कृषि उत्पादों का भण्डारण एवं बिक्री हेतु पैंकिंग अत्याधुनिक मशीनों से लैस विशाल विद्युतीकृत फैक्ट्रियों में औद्योगिक स्तर पर की जाये तो उत्पाद इतना अच्छा हो सकता है कि यह अकुशल मजदूरों, प्रबंधकों और तकनीकी कर्मचारियों के बीच समान वितरण करने हेतु पर्याप्त होगा। परन्तु यह ना भूलें कि जब आप हमारी अच्छी महारानी ऐन के राज में एक किशोरी को भी सैकड़ों पुरुषों के बराबर उत्पान करने में सक्षम बनाने वाली आधुनिक मशीनों की कहानियाँ सुनते हैं तब इस आश्चर्यजनक वृद्धि में सुइओं, स्टील पिनों और माचिसों का उत्पादन भी सम्मिलित है जिन्हें हम ना तो खा-पी सकते हैं और ना ही पहन सकते हैं। बहुत छोटे बच्चे नादानी से सुइयाँ और माचिसें भी खा लेंगे—लेकिन यह तो आहार पौष्टिक नहीं है। अब जब हम जमीन के साथ-साथ आसमान भी जोत सकते हैं, इससे नाइट्रोजन खींचकर हमारी घास और परिणामस्वरूप हमारे पशुओं, दूध, घी, और अंडों की मात्रा और गुणवत्ता बढ़ा सकते हैं, हो सकता है प्रकृति हमें जाँचने के लिए अपनी बांह चढ़ा रही हो कि कहीं उद्योगपति उसका दोहन अतिशय लालच से तो नहीं कर रहे।

और अब समाहार के लिए। अपने स्वाधीनता के स्वप्न से यह आशा मिटा दो कि आप हर समय वह कर पायेंगे जो आप चाहते हैं। आपके दिन के कम-से-कम बारह घंटे प्रकृति आपको कुछ निश्चित कार्य करने हेतु आदेशित करती है, और यदि आपने उन्हें पूर्ण नहीं किया तो वह आपको मार भी सकती है। अब आपके पास जो काम करने के बारह घंटे बचे हैं उनमें भी एक बार फिर प्रकृति आपको मार देगी यदि आप अपनी आजीविका स्वयं नहीं कमाते या किसी और को अपने लिए कमाने हेतु नहीं लगाते। अगर आप किसी सभ्य देश में रहते हैं तो आपकी स्वतंत्रता पुलिस-प्रशासन द्वारा लागू नियमों-कानूनों द्वारा सीमित है, पुलिस आपको बताती है कि आपको क्या करना है और क्या नहीं करना है, तथा दरों एवं करों का भुगतान करने हेतु बाध्य करती है। यदि आप इन कानूनों का पालन नहीं करते हैं तो अदालत आपको जेल भेज देगी, और यदि आप बहुत दूर निकल गए तो आपको मार भी सकती है। यदि कानून वाजिब हैं और निष्पक्ष ढंग से प्रशासित हैं तो फिर शिकायत की कोई गुंजाइश नहीं है क्योंकि

ये आपको हमलों, राजमार्गों की डकैती, एवं सामान्य उपद्रवों से बचाकर आपकी स्वतंत्रता को बढ़ाते ही हैं।

परन्तु जैसा समाज आज बनाया जा रहा है उसमें आप पर आपके मकान मालिकों और नियोक्ताओं की कहीं और अधिक अंतरंग अनिवार्यतायें हैं। आपका मकान मालिक आपको उसकी संपत्ति पर रहने देने से इनकार कर सकता है यदि आप चर्च(कैथोलिक) की बजाय चैपल(प्रोटेस्टेंट) जाते हैं या आपने उसके नामिति की बजाय किसी और को वोट दिया है या आप अस्थि-पंजर का अभ्यास करते हैं या फिर दुकान खोल लेते हैं। आपका नियोक्ता आपके काम के घंटों के साथ-साथ आपके कपड़ों का रंग एवं डिजाइन भी तय कर सकता है। वह आपको किसी भी क्षण सड़क पर ला सकता है, आपको दुखी आत्माओं की दर्द भरी भीड़—जिसे हम बेरोजगार कहते हैं, में पटक सकता है। कुलमिलाकर आप पर उसका अधिकार किसी राजनैतिक तानाशाह से भी अधिक है। आपके पास वर्तमान में इसका एक ही इलाज है, श्रमिक संघों का हड़ताल का हथियार, जो वास्तव में अपने शत्रु के द्वार पर न्याय मिलने तक भूखे-प्यासे पड़े रहने का प्राचीन प्राच्य अस्त्र है। अब जबकि इस देश की पुलिस आपको अपने नियोक्ता के दरवाजे पर तो भूख हड़ताल करने नहीं देगी, तो आपको मजबूरन यह हड़ताल भी अपने ही घर (यदि सौभाग्य से आपके पास हो तो) पर करनी होगी। इस हड़ताल का चरम रूप—एक समय पर सभी कर्मियों की आम हड़ताल- भी मानवीय भूलों का चरम रूप है क्योंकि इसे पूरी तरह अंजाम तक ले जाने पर भी यह एक सप्ताह में ही मानव जाति को समाप्त कर देगी। और मिटने वालों में मजदूर पहले होंगे। आम हड़ताल के मायने है कि श्रमिक संघवाद पागल हो गया है। संयत श्रमिक संघवाद इसकी सहायता के लिए ओवरटाइम काम कर रहे अन्य सभी श्रमिक संघों के साथ एक समय में एक बड़ी हड़ताल से अधिक की स्वीकृति नहीं देगा।

आइये अब हम इस प्रकरण पर आँकड़ों की बात करते हैं। यदि आपको एक दिन में बारह घंटे काम करना पड़े तो आपको प्रतिदिन चार घंटे अपनी मर्जी का काम करने की छूट है बशर्ते वह कानून सम्मत हो, आपके पास मनपसंद पुस्तक या सिनेमा की टिकटें खरीदने के लिए या फिर अर्द्धवकाश में फुटबाल मैच के लिए या फिर अपनी इच्छानुसार किसी भी काम के लिए पर्याप्त पैसे हों। परन्तु यहाँ भी प्रकृति अत्यधिक हस्तक्षेप करेगी। मान लो आपका आठ घंटे का काम कठिन शारीरिक श्रम वाला रहा है और आप घर आकर अपने चार घंटे अपने दिमाग के विकास के लिए मेरी किताब पढ़ने में खर्च करना चाहते हैं तो आप आधे मिनट में ही सो जायेंगे और आपका दिमाग अपनी वर्तमान तमोभूत अवस्था में ही रहेगा।

मैं मानता हूँ कि हम में से दस में से नौ और अधिक स्वतंत्रता के इच्छुक हैं, यही कारण है कि हम इस पर रेडियोवार्ता सुनते हैं। यदि सबकुछ आज ही की तरह—वोट और खैरात से आनंदित—चलता रहा तो हम केवल एक ही सलाह दे सकते हैंः शेक्सपीयर के इआगो वाली—

'अपने पर्स में पैसा रखो'। परन्तु वेतन वाले दिन ही हमारे पर्स में बहुत कम पैसा आता है फिर हफ्ते भर बाकी लोग उसी से पैसे निकालते रहते हैं। ऐसे में इआगो की सलाह तो बहुत व्यावहारिक नहीं है। हमें जो चाहिए वह पाने के लिए पहले राजनीति को बदलना होगा और इसी बीच हमें स्वाधीनता के बारे में जारी बकवास बंद करनी होगी क्योंकि इंग्लैण्ड के लोग जानते ही नहीं कि स्वाधीनता क्या है? वास्तव में स्वाधीनता उन्हें पहले कभी मिली ही नहीं। इन्होंने स्वाधीनता का अंग्रेजी अभिप्राय 'फुरसत/मोहलत' ही जाना-समझा और इसी बात पर जोर देते रहे कि ईमानदारी से काम करने के बदले और अधिक फुरसत मिले, मौजमस्ती के लिए और अधिक पैसा मिले। हमें इंग्लैण्ड के राष्ट्रगीत गाना बंद कर देना चाहिए जब तक कि हम इसकी मूलभावना नहीं समझते और उसे मूर्तरूप नहीं दे देते। जब तक हम ऐसा नहीं कर लेते तब तक हम किसी भी ऐसे संसदीय प्रत्याशी को वोट नहीं देगें जो हमारी स्वाधीनता और स्वतंत्रता के प्रति हमारी आशक्ति की बात करता हो क्योंकि वह खुद को चाहे जो भी राजनैतिक नाम दे परन्तु वह अंदर से निःसंदेह अराजकतावादी ही होगा जो हमारी मेहनत पर ऐश करना चाहता है। इस कृत्य के लिए उसे पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया जाना चाहिए परन्तु वास्तविकता में ऐसा होता है क्या?

चलो हम मान लेते हैं कि हम अंततः और अधिक फुरसत तथा और अधिक पैसा पाने में सफल भी हो जाते हैं, तो हम उनका करेंगे क्या? उनका उपभोग कैसे करेंगे? मुझे तो बचपन में ही सिखाया गया था कि बंदर के हाथ में उस्तरा होना खतरनाक हो सकता है। मैंने लोगों को अमीर होते देखा है, और इसी अमीरी की वजह से उन्हें खुशी, स्वास्थ्य और अंततः जीवन खोते देखा है। ऐसा लगता है जैसे उन्होंने शैम्पेन और सिगार की बजाय रोज चूहा मारने की दवा खाई हो। इस फुरसत और पैसे का सही इस्तेमाल करना इतना आसान नहीं है। यह संस्कार है जिसे अर्जित करना होता है।

अब मैं आपको सुलझाने हेतु ढेर सारी गुत्थियाँ सौंप कर विदा लेता हूँ। यह आप पर निर्भर करता है कि आप प्रतिदिन आठ घंटे काम करके पैंतालीस में पूरी पेंशन के साथ सेवानिवृत्त होना चाहते हैं या फिर प्रतिदिन चार घंटे काम करके सत्तर वर्ष की आयु तक काम करते रहना चाहते हैं? आप कृपाकर इस बात का जवाब मुझे मत भेजिए बल्कि इस बारे में अपनी पत्नी से चर्चा कीजिए।

हिन्दी अनुवादक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

चाँदी के पैंजने

–दिनेश अत्रि

बरौनी का छोटा लड़का मुरारी जो निठल्ला और आवारा है, अपनी बीवी को बात बेबात मारा करता है और उसकी बीड़ी की कमाई को जुए और ठर्रे में उड़ा देता है।

बरौनी बुढ़ा रही है। उसकी झुर्रियों पर बड़े परिवार का बोझ है। उसके कमाऊ बड़े लड़के ने शादी के बाद अलग घर बसा लिया। बड़ी लड़की बेवा होकर दो बच्चों के साथ मैके वापिस आ गई। वह अक्सर बीमार बनी रहती है। बरौनी के पति ने खुद दूसरी औरत कर ली। घर में कुल जमा आठ प्राणी हैं।

और बरौनी कॉलोनी के आठ घरों में झाडू बरतन किया करती है। आये दिन बरतनों पर जूठन रह जाने से कॉलोनी की स्त्रियाँ नाराज़ हैं और निकालने की धमकी देती रहती हैं। लेकिन यह तो बहुत अच्छी तरह जानती है कि छुड़ाई नहीं जाएगी। इतनी सस्ती और भरोसेमंद बरौनी आजकल मिलती कहाँ हैं? बरतन पर दाग भले ही रह जाए उसके चरित्र पर कोई दाग नहीं। उसने आजतक एक चम्मच तक नहीं चुराई। कॉलोनी की कुछ स्त्रियाँ उससे सहानुभूति रखती हैं जहाँ एक प्याली चाय, ठंड में गरम पानी और सुख दुःख कहने सुनने का बन्दोबस्त है। उन्हीं में से एक मेरी पत्नी है।

कुछ दिन पहले बरौनी मेरी पत्नी से कह रही थी, ''छोटे की नौकरी अब लग जै है बाई। बड़े साब के आदमी ने कै दई है। बीस हजार डब्बल चाने आएँ। साब से तन्नक कै देखिए।''

मुरारी बरौनी के साथ घर आया। झिझकते हुए कहने लगा, ''साब मिडिल पास हूँ। डिराईवरी जानता हूँ। जीप ट्रक ठेला सब चेला लेता हूँ। छै महीने बिजली दफ़्तर में नौकरी की है। साल भर पहले जब इंजेनियर साब का तबादला हुआ, मुझे नौकरी से निकाल दिया गया। तब से बेकार हूँ। लेकिन अब उम्मीद है। दफ़्तर के बड़े साब के एकदम ख़ास आदमी ने चालीस हजार डब्बल में काम बन जाने का वादा किया है। तीन दिन बाद इंटरवू है। प्रत्यासी तो और भी हैं पर मेरी नौकरी पक्की जानिए। रुपये जल्दी ही पहुँचाने हैं। इंतजाम हो जाए बस।''

बरौनी चालीस हजार रुपये ले गई। कह गई कि नौकरी लग जाने पर लौटा देगी। एवज में एक जोड़ा चाँदी के पैंजने बार बार मना करने पर भी यह कह कर दे गई कि भड़या लोगों का डर है इन दिनों मुहल्ले में, वे उसके घर से ज़्यादा यहाँ सुरक्षित रहेंगे–पैंजने जो बुंदेलखण्ड

की कामगार स्त्रियों की ठीक उसी तरह पहचान हैं जिस तरह वलय शनि ग्रह की। उन्हें इस तरह रखना... मन पर अपराध बोध सा बना रहा।

लेकिन मुरारी की नौकरी नहीं लगी। या तो किसी ने चालीस हजार से ज़्यादा दे दिये या साब के खास आदमी ने झाँसा दे दिया जा जुए ठर्रे में उड़ाकर बरौनी को मुरारी ने झाँसा दिया। पता नहीं। बहरहाल, नौकरी नहीं लगी। बूढ़ी बरौनी रुँआसी हो गई। अगले दिन वह सिसकते हुए मेरी पत्नी के आगे अपनी किस्मत कोस रही थी, ''का करें बाई अपनी तो किस्मत खराब है। नौकरी नहीं लगने हती सो नहीं लगी। लेकिन कल छोटे ने बहू की बड़ी पिटाई करी। अब का करें बाई। जो किस्मत में बदो है सो कोई नहीं मिटार सके है। बा चालीस हजार डब्बल तो गए... अब ऐसो है बाई, साब से पूछ देखिये, वे अपने डिपाट में कहीं लगवा देवें... बा पैंजना हम वापिस न ले हैं। चालीस एक हजार के हुइयें। मनो डब्बल वापिस कर दे हैं। साब नौकरी लगवा देवें बस। भगवान उनकी भली करें।''

मेरी पत्नी ने पैंजने वापिस करने की लाख कोशिश की लेकिन बरौनी नहीं मानी। उसे अब भी उम्मीद थी कि जब तक उसके चाँदी के पैंजने यहाँ सुरक्षित रखे रहेंगे छोटे की नौकरी भी सुरक्षित रही आएगी। एक न एक दिन लग ही जाएगी।

इसी उम्मीद में एक दिन बरौनी मर गई।

मेरा बेटा मुझे छत पर ले गया और दूरबीन शनि की ओर लक्षित की, दूरबीन जिसे शौक पूरा करने उसके जन्मदिन पर उसे भेंट की थी। उस रात आकाश में शनि वलय अलक्षित रहा। उसने कब उतार दिए अपने पैंजने, किसी को खबर नहीं हुई। सिर्फ़ जूठे बर्तनों ने दो मिनट का मौन रखा। फिर वे भी धुल गए।

हरिरम्मा
मीनाक्षी पुरम्, पथरिया जाट,
सागर (म.प्र.)
मो. नं. 9425171769

आसाढ़ की एक रात

–आशुतोष मिश्र

वह आसाढ़ की एक रात थी। बादल और अँधेरे की गिरफ्त में इस कदर बेवस और उदास कि जैसे उसे फिर कोई सुबह मयस्सर ही न हो।

मैं नहर की दाहिनी पाट पकड़ कर घर की ओर कुछ दूर ही चला था कि अचानक लगा कि मेरे पैरों के पास से कुछ बहुत तेजी से निकल कर झाड़ियों में गया है। नहर के पाटों पर रहने वाले अनेक विषधर नागों की कई कथाएँ मैंने सुन रखी थीं। जो बरसात के दिनों में पानी भर जाने के कारण अक्सर बाहर निकलते रहते थे। वैसे भी आसाढ़ के मौसम में आस-पास के गाँवों में आये दिन साँप के डसने की घटनाएँ सुनने में आती ही थीं। इन बातों से मुझे यकीन होने लगा था कि मेरे पैरों के पास से कोई साँप ही निकला हो। साँप के ख्याल से मेरे भीतर डर की एक लहर दौड़ गई। डँसने के अलावा सर्प और क्या करते हैं, इसके बारे में मुझे यकीनी तौर पर कुछ पता नहीं था। सर्पदंश के डर से आजाद होने के लिए मैंने अपने पंजे देखने की कोशिश की, पर उस अँधेरे में कीचड़ से लिथड़े पंजे में कुछ भी देख पाना सम्भव नहीं हो पाया। मैं नहर के पानी में पैर धो कर भी देख सकता था, लेकिन उस अँधेरे में नहर में उतरने की हिम्मत नहीं हुई। फिर तो बहुत चुपके से साँप के जहर से मर जाने का अहसास मुझे घेरने लगा। अब मुझे अपने गाँव के विषहरिया बन्हू बाबा बेतहाशा याद आ रहे थे। जिनको मैंने बहुत बार कान पर हाथ रख, पचरा गाते हुए साँप का जहर उतारते देखा था। गाँवों में जब किसी को साँप काटता था तब चार लोग चारो दिशाओं की ओर मुँह कर जोर से पुकारते थे, ‘सुनहू विषहरिया हो! डसहू कीरा बहु जोर, सुनहू विषहरिया हो!’ मैं बचपन से उस रहस्यमयी पुकार को सुनते आया था। मैं किसी भी तरह दौड़ कर बन्हू बाबा के पास पहुँचना चाहता था। पर मैंने यह सुन रखा था कि दौड़ने से साँप का जहर जल्दी चढ़ जाता है। ऐसे में दौड़ने के विचार से भी मुझे डर लगने लगा। अब मैं भय और पीड़ा के उन कठिनतम क्षणों में बन्हू बाबा को पुकार रहा था। पर गाँव वहाँ से इतना दूर था कि मेरी आवाज लौट कर मेरे ही पास आ जा रही थी। धीरे-धीरे मेरे हाथ-पाँव ठंडे होने लगे थे। उस भयग्रस्त वीराने में बेबस मर जाने की सोच कर मुझे रोना आ रहा था। मेरे कानों में बिसहरिया बन्हूँ बाबा के पचरे की आवाज गूँज रही थी। जबकि सच यह था कि मैं अपनी ही आहत पुकार में घिरता जा रहा था ‘डसहू कीरा बहु जोर, सुनहू विषहरिया हो!’

मैंने याद करने की कोशिश कि थोड़ी देर पहले ही तो मैं बस से नहर चौराहे पर उतरा था। तब आसाढ़ की उस रात के पौंने बारह और मेरी उम्र के न जाने कितने बरस-महीने हुए थे। रात और मेरी उम्र के उस हिस्से में पल भर के लिए बस रुकी। अपने पीछे मुझे और बहुत सारा अँधेरा छोड़ चली गई। उस बियाबान अँधेरे में जहाँ मैं खड़ा था वहाँ से घर अभी साढ़े चार मील पैदल था।

गाँव कस्बे से छत्तीस मिल दूर था। उस कस्बे से जहाँ से मैंने आठ बजे की आखिरी बस पकड़ी थी। यह सोचकर कि कस्बे में बेबस होने से अच्छा है कि आखिरी ही सही बस तो पकड़ ही लें। जो आम तौर पर सवा दो घंटे में मेरे गाँव जाने वाली नहर पर उतार देती थी। लेकिन उस दिन कुछ और ही बदा था। बरसात के समय में आम तौर पर आखिरी बस के लिए बहुत ही कम सवारियाँ होती हैं। उस दिन भी बस में बहुत कम लोग थे। जो कुछ-कुछ दूरी पर उतरते जा रहे थे। स्टेशन से बस तो समय से निकली थी लेकिन सवारियों का दबाव कम होने के कारण कस्बे से बाहर आकर एक ढाबे पर रुक गई। ड्राइवर, कंडक्टर और खलासी ने वहाँ खाने-पीने में काफी वक्त लगाया। सवारी कम होने के बाद भी आखिरी बस कस्बे से सिर्फ इसलिए निकलती है कि दूसरे दिन सुबह पहली बस बनकर वापस आ सके। जाते समय सवारियों की कमी वापसी के समय पूरी हो जाती है। उस दिन भी वही सब हो रहा था। बस के ड्राइवर, कंडक्टर अपने हिसाब से बस चला रहे थे। रास्ते के प्रत्येक छोटे-बड़े चौराहे पर रुक रहे थे। कभी पान खाने उतरते तो कभी चाय पीने। बस में लोगों से ज्यादा समान लदा था। आखिरी बस में अक्सर छोटे-छोटे व्यापारियों के सामान लदे होते थे।

उस दिन भी यही सब चल रहा था। जैसे-जैसे बस लेट हो रही थी, वैसे-वैसे मेरा दिल बैठता जा रहा था। मैं लगातार यही सोच रहा था कि यदि बहुत रात हो गई तो मैं नहर चौराहे से घर कैसे जाऊँगा? पर बस के चालक-परिचालक को इसकी चिंता कहाँ थी। वे तो पूरे मौज में चल रहे थे। धीरे-धीरे दूसरे लोग उतरते गये, आखिर में मैं अकेला बचा।

कंडक्टर ने पूछा 'कहाँ उतरना है?' मैंने बताया कि 'नहर चौराहे पर।' उसने बेपरवाही से कहा 'जहाँ भी उतरना हो बता देना', और खलासी को लेकर ड्राइवर की केबिन में चला गया। खलासी ने एक कैसेट लिया, हथेली पर उलट-पुलट कर ठोका और ड्राइवर के सिर के ऊपर कसे हुए डैक में लगा दिया। अचानक बस के सारे स्पीकर खुशी में झूम उठे। जैसे वे भी दिन भर गाते रहने की थकान के बाद अब घर लौटने की खुशी मना रहे हों। आरजू बानो की चहकती हुई आवाज में गाना बज रहा था 'दिन भर चाहें जहाँ रहियो हमार पिया, साँझ के घरा चले अइयो हो हमार पिया।'

मैं केबिन के बाहर दरवाजे के पास वाली सीट पर बैठा यह सब देख रहा था। उन लोगों की खुशी देख कर मैंने अपने जीवन के सुखों को याद करने की कोशिश की, पर याद आए दुःख। मैं सोच रहा था कि इस समय मेरी कक्षा के दूसरे बच्चे, जो नगर के धन्ना सेठों के लड़के थे; कितनी सुख भरी नींद में होंगे। क्या वे भी इस समय मेरे बारे में सोच रहे होंगे?

मुझे यह भी लग रहा था कि आज कोंचिग की आखिरी क्लास छोड़ देनी चाहिए थी। भौतिकी पढ़ाने वाले चौबे जी आज पूरे दो घंटे देरी से आये थे। कोचिंग की भारी भरकम फीस का ख्याल आते ही कक्षा छोड़ने का मेरा इरादा बदल गया। जिसके कारण मुझे उस आखिरी बस की शरण लेनी पड़ी। मौसम खराब था। दिन में भी कई बार बारिश हो चुकी थी। मैं रोज सुबह आठ बजे बस से कस्बे के एकमात्र इंटर कॉलेज में पढ़ने जाता था। कोचिंग क्लास कॉलेज में ही तीन बजे से लगती थी। फिर तीन घंटे की कोचिंग के बाद मैं लगभग साढ़े छह की बस से वापस आता था। आठ-साढ़े आठ तक नहर चौराहे पर उतरता था और फिर पैदल घर।

लेकिन उस दिन मैं क्या करता? गणित विषय से बारहवीं की कक्षा पास करने के लिए उस कोचिंग में पढ़ना अनिवार्य था। अध्यापक भी ऐसे कि दिन की सरकारी कक्षा में अपने ससुराल और साढ़ुआइन की बात करते थे और कोचिंग में फिजिक्स, केमेस्ट्री और मैथ्स पढ़ाते थे। कोचिंग से ध्यान आया कि पिता ने इसी माह साढ़े चार सौ रुपये फीस के दिये थे। जबकि वे रुपए उन्होंने महाजन से धान में यूरिया डालने के लिए उधार माँगे थे। अबकी धान की फसल कुछ उजियार लग रही थी। पिता दिन में कई बार, फूटने को तैयार धान की फसल को देखने जाते थे। यदि उसी समय एक बार यूरिया पड़ जाए तो अबके बरसों बाद धान से घर भर जाता। इसी गरज से उन्होंने महाजन से रुपए उधार लिये थे। पर पिता भी क्या करते? मेरी पढ़ाई भी एक खेती ही थी। जिसमें यूरिया डालना जरूरी था। पड़ा भी। यूरिया के अभाव में धान की पीली फसल की याद के साथ ही मेरे मुँह का स्वाद कसैला हो गया। इधर कई दिनों से मैं खेतों की ओर जाने से बचता था। मैं और मेरी बारहवीं वाली फिजिक्स, केमेस्ट्री उस पिअराते धान के गुनहगार थे।

बस चली जा रही थी। मैं बाहर तेजी से गुजरते अँधेरे को देख रहा था। बीच-बीच में दूर किसी झोपड़ी में जलता हुआ कोई दिख जा रहा था। लोग सो गये थे पर दियों को जलने से तब भी फुरसत नहीं थी। न जाने क्यों अँधेरे में खामोश जलते हुए दियों को देखकर मुझे अपने बाबूजी की याद आती थी।

अक्सर गाते रहने वाले बाबूजी बहुत चुप रहने लगे थे। आधी जमीन अम्मा के गठिया के असफल इलाज में रेहन पर थी। बची हुई जमीन पर गन्ने की खेती करते थे। चीनी मिल और सरकार गलबहियाँ डाले पिता जैसे लाखों किसानों के गन्ने के पैसे को पचा कर डकार ले चुके थे। अब उनसे कुछ पाने की उम्मीद किसी को नहीं थी। गाय का दूध बेचकर अम्मा ने कुछ पैसे जमा किये थे, जिसे गाँव के ही धरीक्षण चौबे के बेरोजगार पी-एच.डी. बेटे ओमप्रकाश ने, तीन साल में दूना करने का लोभ देकर एक निजी बैंक में जमा कराया था। तीन साल पूरे होने के पहले ही बैंक मालिक सबका पैसा लेकर भाग गया। लोगों ने लड़के को पकड़ा। सबने अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार लड़के से वसुली की। कोई उसके दरवाजे से भैंस ले गया, कोई मोटरसाइकिल। गये तो बाबूजी भी थे, अपने मोतियाविंद से लड़ते हुए। किंतु जब उनकी बारी

आई तो वहाँ सिर्फ मातम और उदासी बचे हुए थे। धरीक्षण चौबे बाबूजी को काफी देर तक पनीली आँखों से देखते रहे। उनके होठों पर एक बेचैन चुप्पी थी, जिसके कारण उनके होठ थरथरा रहे थे। पर कुछ बोल नहीं पाये।

बाबूजी भी उनसे कुछ नहीं कह सके, थोड़ी देर तक उनके कंधे पर हाथ रखे रहे और फिर अपनी लाठी टेकते हुए धीरे-धीरे वापस चल दिये। पर वे सीधे घर नहीं आये। गाँव के बाहर पोखरे पर चले गये और शाम तक वहीं चुपचाप बैठे रहे। उस घटना के बाद अम्मा ने पैसा जुटाना छोड़ दिया, चीनी मिल मालिक ने एक और बंद पड़ी सरकारी चीनी मिल खरीद लिया, भागे हुए बैंक का मालिक विधायक बन गया, ओमप्रकाश चौबे ने कुछ दिन बाद ट्रेन से कटकर जान दे दी और पिता बहुत चुप रहने लगे थे। यह मैं बहुत बाद में समझ पाया था कि उस दिन बाबूजी अम्मा के पैसों के बदले धरीक्षण चौबे के घर से वसूली में चुप्पी लाये थे।

मैं यही सब सोच रहा था कि बस एक झटके के साथ रुकी। खलासी जोर से चिल्लाया 'नहर चौराहा आ गया, उतर जइयो।' खलासी की आवाज से मुझे ख्याल आया कि 'दिन भर चाहे जहाँ रहियो' के तर्ज पर उसने 'उतर जइयो' कहा था। बाहर देखा, बस की हेडलाइट की अधूरी रोशनी में नहर की पुलिया उँघती हुई सी चमक रही थी। मैं खलासी के प्रति कृतज्ञता से भर गया।

बस जा चुकी थी। मैं अँधेरे में नहर के पाट पर अपनी किताबें लिये खड़ा था। नहर आसाढ़ के पानी से लबालब भरी हुई थी। नहर की दाहिनी वाली पाट गाँव से होकर जाती थी। नहर के बायीं तरफ एक बुजुर्ग जंगल था जो बरसात के दिनों में पानी पाकर अपने जवानी के दिनों सा मचला जा रहा था। यह वही नहर थी जिस पर शाम को टहलते हुए गाँव के बेचई चाचा जोर-जोर से गाते थे कि 'हमको ले चल यारा ठंडी ठंडी नहर के किनारे।' तब मुझे नहर का पानी, चाचा और उनका गाना सभी बहुत अच्छे लगते थे।

पर आधी गीली और आधी चिपचिपी आसाढ़ की उस काली रात में नहर और उसके पानी को देखकर मैं एकदम से डर गया। कुछ देर पहले ही बारिश होकर गई थी। फिर भी बादल छाये हुए थे। घर जाने के लिए मुझे नहर की दाहिनी पटरी पकड़नी थी। बरसात के कारण उस पटरी के दोनों ओर उग आईं घनघोर झाड़ियों ने अच्छी-खासी सड़क को पतली सी पगडंडी में बदल दिया था। कच्ची मिट्टी होने के कारण जगह-जगह पानी जमा था और जहाँ पानी नहीं था वहाँ भयानक फिसलन का कैंजा था। उसकी बाईं ओर लबालब भरी हुई नहर और दाहिनी ओर आपस में गुत्थमगुथा करती हुई बेशरम और नरकट की झाड़ियाँ थीं। मैं उस रास्ते पर या तो आगे जा सकता था, जिधर घर था या फिर पीछे जिधर घर नहीं था। मैं बहुत देर तक ठीक उस पगडंडी के सामने खड़ा रहा फिर हिम्मत जुटा कर सधे हुए कदमों से आगे बढ़ा था।

अब मुझे लग रहा था कि साँप का जहर धीरे-धीरे चढ़ रहा है। फिर भी चलते रहने के सिवा और कोई चारा नहीं था। इसी उधेड़बुन में मैं उस पगडंडी पर लगभग एक फर्लांग बढ़

आया था। जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा था वैसे-वैसे मेरा डर भी बढ़ रहा था। मेढ़क और झिंगुर के आवाज सन्नाटें से होड़ लगा रहे थे। थोड़ी देर में मुझे यह लगने लगा कि ये सब के सब हमला करने वाले हैं। फिसलन के कारण नाखून गड़ा कर चलने से नाखून सुन्न होने लगे थे। पाँव काँपने लगे। शरीर में जैसे खून ही न हो। पर घर तो पहुँचना ही था।

उस दिन मुझे घर बहुत प्रिय लगने लगा था। वह घर जहाँ घोर अभाव और उदासी पसरी रहती। जहाँ से मैं रोज कहीं भाग जाने के बारे में सोचता था। पर कभी पिता की आँखों के मोतियाबिंद ने तो कभी माँ की गठिया ने मुझे भागने नहीं दिया। वैसे मुझे यह भी लगता था कि यदि मैं कभी घर छोड़ कर भागा तो मेरे पीछे लाचार माँ-बाप चाह कर भी कभी मुझे खोजने नहीं आ पाएंगे। वैसे भी भागना तभी भागना होता है, जब पीछे कोई खोजने वाला हो, यदि कोई खोजने वाला न हो तो वह भागना नहीं जाना होता है।

बूँदाबाँदी शुरू हो गई थी। मैंने किताबों को शर्ट के भीतर रख लिया। उन किताबों को मुझसे दो साल पहले गाँव के ही मन्नू भइया पढ़ चुके थे। उन किताबों को उनके घर से अम्मा माँग कर लाईं थीं। बदले में मन्नू भइया की माई ने अम्मा से पाव भर गाय का घी लिया और मेरे पास होने के बाद जस का तस किताब लौटाने का किरिया धराया था। खैर, घर पहुँचने की जल्दी में मेरे दोनों पाँव एक साथ घर की ओर फिसले और मैं पीछे की ओर पीठ के बल धड़ाम से गिरा। नहर की पाट पर बैठे कुछ मेढ़कों ने पानी में छलांग लगाई और झिंगुरों ने थोड़ी देर के लिए विराम लिया फिर पूरी ताकत से बोलना शुरू कर दिया। जैसे कि उन्हें गिरे हुए मनुष्यों के बारे में कुछ चिंता करने की जरूरत ही न हो। पर मैं बदहवास था। दर्द से ज्यादा भय व्याप गया। जैसे कमर टूट गई हो। कपड़े कीचड़ में सन गये थे। थोड़ी देर वैसे ही बैठा रहा। बारिश तेज हो गई थी। मैंने किसी तरह खुद को समेट कर खड़ा किया और पहले से थोड़ा तेज चलने लगा। अब मेरा सामना आसाढ़ की उस भयानक रात से था।

मेरे परिवार में अम्मा-बाबूजी के अलावा एक गाय लक्ष्मी, बछड़ा विनायक, एक कुत्ता भी था जिसे हम लोग भूरा कहते थे। घर की गरीबी सब पर सवार थी। बाबूजी दुर्दिन से लड़ते हुए अब हारने लगे थे। अम्मा को सबसे अधिक उम्मीद मुझसे और लक्ष्मी से थी। मैं तो अभी बारहवीं में पढ़ रहा था और लक्ष्मी; उसके पास तो विनायक भर का दूध हो जाय, यही बहुत था। फिर भी अम्मा रोज लक्ष्मी के लिए एक टुकड़ा रोटी पहले ही निकालती थीं और उम्मीद करती थीं कि गौमाता की कृपा से एक दिन सब अच्छा हो जाएगा। भूरा के हिस्से में थाली का बचा-खुचा ही आता था। वैसे खाना भरपूर हो तभी थाली में बचता है। अक्सर बाबूजी अपनी थाली से एक-दो कौर बचा कर भूरा को दे देते थे। अपने भूरा उसी में मगन। बावजूद इसके घर का कोई बस पकड़ने के लिए कभी चौराहे तक जाता तो भूरा भी साथ आता। भूरा का यह प्रेम ही हम लोगों के जीवन का एकमात्र सुख था।

अपने घर-परिवार को याद करते हुए कुछ देर तक मैं तेज-तेज चलता रहा। थोड़ी देर में ही पेट में ऐंठन होने लगी। ऐंठन से ध्यान आया कि मुझे बहुत भूख लगी है। उस दिन मैं

सिर्फ एक बासी रोटी और अचार खाकर स्कूल आया था। अम्मा-बाबूजी एकादशी के व्रत पर थे। कुछ इंतजाम हो जाने पर उस दिन वे सिर्फ फलाहार करते। इसलिए खाना नहीं बना और स्कूल के लिए निकलते समय अम्मा ने मुझे जोड़-जाड़ कर छब्बीस रुपए दिये थे, जिससे कि मैं स्कूल में ही कुछ खरीदकर खा लूँगा। प्राइवेट बस यूनियन वाले रोज-रोज के बकझक से बचने के लिए स्टूडेंट कन्शेसन में आधा किराया लेते थे। मैंने माँ के दिये हुए रुपए में से दस रुपए जाने-आने का किराया दिया था। आठ रुपए किताब वाले का उधार चुकाया, बाकी के आठ रुपए कुछ खाने के लिए बचा लिए थे। मैं समोसे के ठेले के सामने से दो-तीन बार गुजरा भी था पर अम्मा-बाबूजी के चेहरे को याद कर कुछ खा नहीं पाया। मैं जानता था कि वे लोग एकादशी व्रत से अपेक्षित फल की उम्मीद में गुड़ के शर्बत पर पूरा दिन बिता दिये होंगे। दूसरे यह कि मैं पैसे बचाकर अम्मा को चौंका देना चाहता था। इसीलिए बचे हुए पाँच, दो और एक के सिक्के को मैंने समोसे-चटनी की उस भरपूर खुशबू के बीच पूरी ताकत से मुट्ठी में दबा लिया।

सिक्कों का ख्याल आते ही मुझे उस अपार निरीहता में भी ताकत का अहसास हुआ। साँप के काटे का डर और भूख दोनों जाते रहे। मैंने ठहर कर अपने पैंट की जेब टटोली। सिक्के नहीं थे। फिर शर्ट, फिर एक बार पैंट के सारे जेब देखे। पर सिक्के कहीं नहीं थे। सिक्कों के होने के अहसास से आई ताकत उनके जाते ही चली गई। जेब तो मुकर चुके थे। मुझे लगा कि जहाँ मैं फिसल कर गिरा था वहीं वे सिक्के भी गिर गये होंगे। मैंने भूख मार कर उन सिक्कों को बचाया था। मुझे लगा मैं यह नहीं होने दूँगा कि साँप भी काट ले, भूखा भी रहूँ और मेरे रुपए भी खो जाय। मुझे अब मेरी बेचारगी पर क्रोध आने लगा था। मैं सिक्कों के उस छल को सहन नहीं कर पा रहा था। उन्हें फिर से पाने की भावना मन में भर गई। किंतु उसके लिए मुझे वापस उस गिरने वाली जगह पर जाना था। मेरे हिसाब से मैं उस जगह से एक तिहाई दूरी तय कर चुका था। बारिश भी रुकी हुई थी। थोड़ी-थोड़ी देर में बिजली चमक जा रही थी। मैं बिना कुछ सोचे-समझे पीछे मुड़ गया। वापस चलते हुए मुझे खुद के जुझारू होने पर थोड़ा गर्व भी हुआ। लेकिन जैसे-जैसे पीछे की ओर चलता जा रहा था वैसे-वैसे एक बार फिर वही पहले वाला डर मेरे भीतर बढ़ने लगा। फिर भी मैं बदहवास सा चलता रहा।

पैरों में पड़े हवाई चप्पल बार-बार कीचड़ में धस जा रहे थे। फीता टूटने के डर से उन्हें कीचड़ से जोर देकर नहीं निकाल सकता था। इसलिए रुक कर चप्पलों को हाथ से निकालता था, तब आगे बढ़ता था। चप्पल का एक फीता जो लाल रंग था, अभी हाल में ही बदला गया था। चप्पल के साथ वाले फिते नीले रंग के थे, कुछ दिन पहले एक फीता टूट गया था। बाबूजी को मोतियाबिंद के कारण कम दिखता है, इसीलिए दुकानदार ने उन्हें लाल रंग के फीते को नीला बता कर दे दिया था। स्कूल में दो रंग के फीतों को लेकर सभी मेरा मजाक उड़ाते थे। किसी को जबाब क्या देता, खुद मुझे ही वे अच्छे नहीं लगते थे। बावजूद इसके मैं नहीं चाहता

था कि मेरे चप्पल के फीते इतनी जल्दी टूटें। उस फिसलन और कीचड़ में चप्पल पहन कर चलने में खासी परेशानी भी हो रही थी फिर भी उन्हें पैरों में डाले घसीट रहा था। चप्पल को हाथ में ले लेता पर कहीं कुछ काट न ले, यह डर भी सता रहा था।

अभी और कितना दूर चलना है, यह अंदाजा लगा ही रहा था कि मुझे लगा कि कोई मेरे बगल से झप से गुजरा है। मैं सन्न रह गया। मुझे चूड़ी बजने की आवाज भी सुनाई देने लगी। मेरा पैर दाहिनी ओर फिसला और मैं पगडंडी के किनारे लगे बेशरम की झाड़ से टकरा गया। उस अँधेरे में भी मैंने महसूस किया कि मेरे सारे पस्त पड़े हुए रोएँ खड़े हो गए हैं। क्या था जो मेरे बगल से गुजरा था। अचानक लगा कि ठीक मेरे सामने कोई औरत जोर-जोर से हाँफ रही है। वह आवाज इतनी स्पष्ट थी कि उसके बारे में कोई संदेह नहीं किया जा सकता था। पर इतनी रात को इस समय यहाँ कोई औरत क्या कर रही है? हाँफने की उस आवाज से मैं विचलित हो गया। न आगे बढ़ पा रहा था और न पीछे। मैं पत्थर की तरह खड़ा था। मैं कुछ भी सोचने-समझने की स्थिति में नहीं था। पर यह सवाल तो नगाड़े की तरह बज रहा था कि अँधेरे में मेरे सामने खड़ी हाँफ रही वह औरत कौन है? मैं कुछ-कुछ अंदाजा तो लगा रहा था पर चाह यही रहा था मेरा अंदाजा गलत हो जाय। अंदाजा यह था कि वह औरत दद्दन तिवारी की पतोहू है। दद्दन तिवारी हमारे बगल के गाँव के सम्मानित व्यक्ति थे। पत्नी का देहान्त काफी पहले हो गया था। तिवारी जी ने अपनी दो बेटियों का विवाह बहुत धूम-धाम से किया था। किंतु एकमात्र मंदबुद्धि पुत्र की शादी नहीं हो पा रही थी। तिवारी जी को अपना वंश डूबता हुआ नजर आने लगा था। इसलिए उन्होंने वंश के रक्षार्थ हाथ-पाँव मारना शुरू कर दिया। फलस्वरूप उन्हें एक गरीब कन्या मिल गयी। जिससे उन्होंने अपने मंदबुद्धि बेटे का विवाह करा दिया। पर गाँव के लोगों ने कभी भी उनके मंदबुद्धि बेटे को घर के भीतर और तिवारी जी को घर के बाहर सोते नहीं देखा। धीरे-धीरे उस विवाह की सच्चाई पूरा गाँव जान गया। लोग तिवारी जी के बेटे से मजाक करते ‘का महराज तोहार नवकी अम्मा कैसी हैं?’ वह मुस्कुरा कर कहता ‘ठीक हैं।’

सब कुछ वैसे ही चल रहा था कि एक रात तिवारी जी की वही पतोहू आग की लपटों में लिपटी हुई पानी-पानी चिल्लाते हुए घर से बाहर निकली। लोग कुछ समझ पाते कि वह नहर में जाकर कूद गई। बहुत हाय-हाय हुआ। पर अंत में यह कहा गया कि पतोहू ने आत्मदाह कर लिया। पर गाँव में जितने लोग उतनी बातें। अधिकांश लोग यही मानते थे कि तिवारी जी की पतोहू ने आत्मदाह नहीं किया था बल्कि तिवारी जी ने उसे जला कर मारा था। कारण कि युवा पतोहू के तेज के आगे धीरे-धीरे तिवारी जी परास्त होने लगे थे। उन्हें कई बार पौरुष बढ़ाने का दावा करने वाले खानदानी हकीमों के डेरे पर भी देखा गया था। उन दवाओं से पौरुष बढ़ा कि नहीं पर उनके भीतर का संदेह जरूर बढ़ता गया। अब वे पतोहू पर बहुत अधिक नजर रखने लगे थे। गाँव की किसी औरत से उसे मिलने नहीं देते थे। एक दिन दोपहरी के समय वे कहीं से आये। घर के भीतर से हँसने की आवाज आ रही थी। उन्हें कुछ अनुचित लगा। दबे पाँव

घर के भीतर गए। आँगन में उनकी पतोहू उनके ही ट्रैक्टर के ड्राइवर से बात करते हुए हँस-हँस कर लोट-पोट हुई जा रही थी। आँचल माथे से सरक कर गोद में पड़ा था। अचानक तिवारी को लगा कि ड्राइवर कौआ है जो उनकी पतोहू के सीने पर रखे स्वर्ण कलश पर चोंच मारने वाला है। उनको यह भी लगा कि ड्राइवर और पतोहू उन्हीं पर हँस रहे हैं। फिर क्या था उसी रात उनकी पतोहू आग के गोले में लिपटी हुई बाहर भागी थी।

लोग बताते हैं कि तिवारी जी की वही पतोहू अक्सर रात में नहर पर घूमती रहती है और आते-जाते लोगों से कहती हैं कि 'मुझे प्यास लगी है।' बचपन से अनेक बार सुनी हुई वह कथा उस रात मेरे सामने हकीकत बन कर खड़ी थी। अचानक मुझे लगा कि वह औरत अब हाँफना बंद कर अब मुझसे कह रही है कि 'मुझे प्यास लगी है।'

पानी माँगने की आवाज लगातार बढ़ती जा रही थी। उसकी हर आवाज के साथ ही मेरे देह का खून भी जमता जा रहा था। एकाएक वह आवाज पीछे की ओर से आने लगी। पता नहीं वह कौन सा आवेग था कि मैंने चप्पल हाथ में लिया और उस आवाज से पीछा छुड़ा कर दम लगा आगे की तरफ दौड़ पड़ा। बदहवासी में कितनी बार फिसल कर गिरा, उठा कुछ पता नहीं। बस दौड़ रहा था। ऐसा लग रहा था कि तिवारी जी की पतोहू मेरे पीछे-पीछे पानी माँगते हुए दौड़ रही है। मैंने सुन रखा था कि प्रेतों के भी अपने इलाके होते हैं। इसलिए मैं दम लगा कर उस आवाज के इलाके से बाहर निकलने के लिए भाग रहा था। काफी दूर निकल आने के बाद मुझे ध्यान आया कि मैं तो अपने खोये हुए सिक्के खोजने आया था। सिक्के खो जाने के दुःख दद्दन तिवारी की पतोहू के डर पर भारी पड़ने लगा। मैं रुका, पूरी ताकत लगा कर पीछे देखा। पीछे कोई नहीं था। न ही दद्दन तिवारी की पतोहू और न ही उसकी वह आवाज। थोड़ा सुकून मिला पर जैसे ही ध्यान आया कि वापस लौटते हुए फिर उसके इलाके से तो गुजरना पड़ेगा, मेरा डर और बढ़ गया।

मेरे दाहिने पाँव में तेज दर्द उठा। भागते समय कोई सीसा चुभ गया था। हाथ से टटोल कर देखा। सीसे से एक कोना पकड़ में आया। पकड़ कर खींचने की कोशिश में वह और भीतर चला गया। साथ ही दर्द की एक लहर भी भीतर तक रेंग गई। मैंने सीसे को निकालने का प्रयास छोड़ दी। हाथ में लिया चप्पल नीचे रखा। नीचे कुछ दिख नहीं रहा था। बाएँ पैर से टटोला, थोड़ी ही देर में अँधेरे की सबसे निचली रैक में चप्पलें मिल गई। कहीं से मेरे मन में यह ख्याल आया कि कीचड़ के दरमियाँ ही सही चप्पलों से मिल कर पैरों को थोड़ी खुशी और दाहिने पैर के घाव को देखकर चप्पलों को थोड़ा दुःख अवश्य हुआ होगा। किंतु जल्दी ही मैं इस चप्पल-चिंतन से मुक्त हो यह अंदाजा लगाने लगा कि जाते समय मैं कहाँ फिसल कर गिरा था। जिससे कि वहाँ पर अपने सिक्कों को खोज सकूँ। पर दद्दन तिवारी की पतोहू से डर कर भागते समय इतनी बार गिर चुका था कि यह समझना मुश्किल हो गया कि जाते समय कहाँ और भागते समय कहाँ गिरा था। तो क्या मुझे मेरे सिक्के नहीं मिल पाएँगे? इस ख्याल

से मेरे भीतर दुरूख की एक नई जिल्द तैयार हो गई। मैं भय और वंचना से भर गया। फिर भी मैंने जिद्द में आकर तय किया कि अपने सिक्के तो खोजूँगा ही।

मैंने अपनी खोज शुरू की। मैं कभी दस-बीस कदम आगे तो कभी पीछे आ-जाकर सिक्के खोजने लगा। संभावित जगहों पर अँधेरे में बैठ कर कीचड़ को हाथ से मसल कर देखता रहा। बीच-बीच में बिजली चमकती तो ऐसा लगता कि कुछ जगहें पीछे छूट गईं हैं, फिर मैं पीछे जाकर उन जगहों पर देखता। यह सब करते हुए मैं पूरी तरह थक गया था। दसों दिशाओं से उतर कर अँधेरा और भय मुझे घेरे हुए बैठे थे। सिक्के खोजने में मैं और मेरे कपड़े कीचड़ में बुरी तरह से लिथड़ गये थे। इतने कि अब मुझे चलने में भी भारी मुश्किल आ रही थी। शर्ट के भीतर रखीं किताबें गीली होकर पेट की त्वचा से चिपक जा रही थीं। किंतु उनके बारें में सोचने का कोई मौका ही नहीं था। चलते समय पैर में धँसा हुआ सीसा थोड़ा और भीतर सरक जा रहा था। जितना सीसा भीतर सरकता उतनी ही चीख मेरे गले से बाहर निकलती। पाँव का दर्द, सिक्के न मिल पाने का दुख, पेट की भूख, साँपों, प्रेतों का भय, अम्मा-बाबुजी की निरीहता, घर की गरीबी के बीच इतनी रात में इस हालत में कहीं न पहुँच पाने की बेबसी से मैं घिर चुका था। अँधेरे, भय और थकान के कारण मुझे दिशाभ्रम हो गया। मैं समझ नहीं पा रहा था कि मुझे किस ओर जाना है। आगे या पीछे। घबराहट में मुझे बिल्कुल पता नहीं चल पा रहा था कि जहाँ खड़ा हूँ, वहाँ से मेरा गाँव किस तरफ है। दो-चार कदम किसी ओर चलता और फिर हताश हो जाता। सब कुछ अँधेरे में गुम हो चुका था। बहुत दूर कहीं कोई आल्हा गायक ढोल के थाप पर अपनी भूख को बजा रहा था

'बाहर को भीतर जावे ना, ना भीतर को बाहर जाय।
ऐसौ समय परौ महुबे पै, बिपदा कछू कही न जाय।'

आसाढ़ की वह रात और लंबी होती जा रही थी। अब उस रात में कुछ भी काव्यात्मक नहीं बचा था। रुक-रुक कर हो रही बारिश में मैं तब तक कई बार भीग चुका था। जब तेज बारिश होती तो अँधेरा घुल-घुल कर नीचे आ जाता। ऐसा लग रहा था कि जैसे मैं कई वर्षों से इसी नहर पर फँसा हुआ है। मुझे अब सुबह घर से स्कूल जाने से लेकर शाम के समय कस्बे में आखिरी बस पकड़ने तक की घटना बरसों पुरानी लग रही थी। आसाढ़ की उस रात में मैं खो गया था।

मैं नहर के पाट का सहारा लेकर बैठ गया। यही वह लम्हा था जब मुझे अपने मृत्यु के बारे में ख्याल आया। मुझे विश्वास होने लगा कि यही मेरा अंतिम समय है। मैंने सोचने की कोशिश की यदि मैं यहीं इस हालत में मर गया तो किस पर क्या फर्क पड़ेगा। मैंने अंदाजा लगाया कि मेरे मर जाने के बाद पिता और अधिक चुप रहने लगेंगे। गाँव वाले दद्दन तिवारी की पतोहू के साथ मुझे भी रात में इस नहर पर घूमने वालों में गिनने लगेंगे। और अम्मा? अम्मा क्या करेंगी, इस बात का मैं ठीक-ठीक अंदाजा नहीं लगा पा रहा था, पर उस अँधेरे में भी मुझे

इतना विश्वास था कि मेरे नहीं रहने के बाद अम्मा जब तक जिएंगी तब तक घुट-घुट कर बहुत मद्धिम आवाज में रोती रहेंगी। मैंने शर्ट के भीतर से किताबों को निकाला। किताबें गिली रोटी की तरह बेजान हो गईं थीं। अँधेरे में उन्हें सहलाता रहा, उनके लिजलिजेपन से मन ग्लानि से भर गया। वह रात तो मुझसे सब कुछ छिने जा रही थी। किताबें खराब हो गयी थीं। किताबें मन्नन भइया की थीं। किताबें जिन्हें वापस लौटाने के लिए अम्मा ने किरिया खाया था, किताबें जिन्हें पढ़ कर मुझे अम्मा-बाबूजी के अनुसार बड़ा आदमी बनना था। किताबें जिनसे बारहवीं पास करने के बाद मन्नन भइया लुधियाना में गैस सिलेण्डर ढोते हैं। मन्नन भइया का ख्याल आते ही मेरे मन से किताबों का मोह जाता रहा। लुगदी हो गईं किताबों को मैंने धीरे से बाहर के अँधेरे में कहीं सरका दिया।

मेरा सिर धीरे-धीरे घूमने लगा था। मुझे नींद आ रही है, मैं बेहोस हो रहा हूँ या मर रहा हूँ; यह समझ नहीं पा रहा था। अब मैं केवल यही चाह रहा था कि किसी तरह एक बार अम्मा से मिल लूँ। पर संभव नहीं था। मैं असहाय हो गया था, बहुत ही नामालूम ढंग से अपनी पीठ को नहर के पाट से टिकने दिया। मैं सुन पा रहा था कि कहीं बहुत दूर किसी स्त्री के रोने की आवाज। बहुत देर तक उस आवाज को पहचानने की कोशिश करता रहा। स्त्री की रोने की आवाज और अँधेरा दोनों मिल कर उस रात और उस समय को और अधिक रहस्यमय बना रहे थे। अब मुझे पूरा विश्वास हो गया था कि मैं यहाँ से कभी निकल नहीं पाऊँगा। सिक्के खो गये थे, किताबें खराब हो गईं थीं, ऐसे में मेरे पास बचाने के लिए सिर्फ दो रंग की फितों वालीं चप्पलें थीं। मैंने चप्पलों को पैरों से निकाल कर जैसे-तैसे किताबों वाली जगह पर रख लिया। बार-बार गिरने से मेरा एक घुटना और दोनों कुहनियाँ छिल गईं थीं। दाहिने पैर में धंसा सीसा लगातार टीस रहा था। कीचड़ की वजह से घुटने और कुहनियों के घाव जल रहे थे। सीधा खड़ा होकर चलना मुश्किल गया। बैठे जाने पर देह का दर्द जितना कम होता उससे कई गुना ज्यादा भय बढ़ जा रहा था। इसलिए जानवरों की तरह चौपाया होकर चलने लगा। मेरा ऐसा चलना, ऐसे चलने वालों की दुनिया में एक भद्दा और निरीह हस्तक्षेप था। शायद इसीलिए विचित्र प्रकार से चलते हुए एक चौपाये को देखकर अचानक नरकट की ओर से हुआँ-हुआँ करते सियारों का एक झुंड सामने आ गया। ऐसा लगा कि जैसे सियार मुझे काट लेंगे। मैं चिल्ला रहा था, मैं बड़बड़ा रहा था। पर सच यह था कि अब सियार चुप थे और मैं हुआँ-हुआँ कर रहा था। अजीब तरह की आवाज सुन सियार थोड़े पीछे हटे कि मैं एक झटके में खड़ा हुआ और जान तेज कर भागा। पर किस ओर, पता नहीं। कुछ देर वैसे ही भागते रहने के बाद मैं परास्त होने लगा। भागना तो दूर अब खड़े रहने भर की सामर्थ्य मुझ में नही रह गई थी। लड़खड़ा कर कीचड़ में गिर गया।

फिर धीरे-धीरे बारिश होने लगी थी। अब मैं सिर्फ अम्मा के बारे में सोच रहा था। मेरी अंतिम इच्छा यही थी कि एक बार घर पहुँच जाता तो अम्मा से सब हाल कह सुनाता,

फिर मर भी जाता तो कम से कम वे मेरा इंतजार तो नहीं करतीं। अचानक मुझे मेरे आस-पास किसी जानवर के होने का अहसास हुआ। घबराहट के कारण मेरे गले से आवाज नहीं निकल रही थी। मैं हनुमान चालीसा पढ़ने की कोशिश करने लगा। उस समय डर और घबराहट के कारण हनुमान चालीसा की भी एक-आध पंक्तियाँ ही याद आईं। गाँव के बरम बाबा को याद किया तो मुझे मिट्टी के एक अनगढ़ पिंडी के अलावा कुछ भी ध्यान नहीं आया। लक्ष्मी को याद किया तो मेरी निरीहता और बढ़ गई।

मैंने महसूस किया कि मेरे आखिरी समय में सबने मेरा साथ छोड़ दिया है। मैं खूब जोर से चिल्लाना चाहता था, इतनी जोर से कि मेरी आवाज मेरी अम्मा तक पहुँच जाय। मुझे पूरा विश्वास था कि इतनी रात को भी वे सिरहाने ढिबरी और पैताने बोरसी में आग जिलाये गाँव के बाहर की ओर कान दिये जाग रही होंगी। पर मैं कुछ भी नहीं कर पा रहा था। मैं रोना चाहता था किंतु आँसूओं को भय ने और रुलाई को उस अँधेरे ने बेदखल कर दिया था। मैं संज्ञा शून्य खड़ा था। मैं उस जानवर को अपनी ओर बढ़ते हुए महसूस कर रहा था। बाहर कुछ भी नहीं दिख रहा था। घबरा कर मैंने आँखे बंद कर ली। जिससे अंदर और बाहर के अँधेरे आपस में मिलकर काले रंग के अथाह समुंदर में बदल गये। धड़कनों को धीरे-धीरे कम होते महसूस कर रहा था। मैं अपने बाहर-भीतर के अँधेरे में डूब रहा था। मेरी देह जबाब दे चुकी थी। मैं भरभरा कर वहीं कीचड़ में लेट गया। सब कुछ खत्म हो जाने के उस कठोर समय में मुझे ध्यान आया कि अखिरी समय में किसी की और कुछ भी याद नहीं आती सिवाय थोड़ा और जी लेने के। थोड़ी देर पहले के सारे दुःख, हताशा, पराजय ही नहीं अब तक के जीवन के पाप-पुण्य कुछ भी नहीं बचे थे।

मैं एक विचित्र प्रकार की बेहोशी में जा रहा था कि मेरे चेहरे पर गर्म साँसों की एक फुहार आ पड़ी, जैसे मैं कहीं जाते-जाते लौट आया। पर उसी के साथ लौट आया मेरा डर भी। वह जानवर अब बिल्कुल मेरे चेहरे के पास था। मुझे लगा कि अभी कुछ और बाकी है। मैं सिकुरा हुआ पड़ा था। चेतना तो वापस लौट आई थी पर शरीर साथ नहीं दे रहा था। मैं पानी, कीचड़ और बेबसी में चुपचाप पड़ा था। उसके नथूनों से निकलने वाली गुनगुनी भाप से मेरा पूरा चेहरा भींग रहा था। वह कहीं से मुझे काट खाना शुरू करे क्या फर्क पड़ेगा। मेरी ओर से कुछ और हरकत होते न देखकर वह एक बार फिर आगे बढ़ा। अब वह अपनी खुरदरी जीभ से मेरा गर्दन चाटने लगा। पहले डरते हुए फिर तेज-तेज। मुझे उसके चाटने से घबराहट होने लगी। मैं एक झटके में उठ कर बैठ गया। मेरे उठते ही वह चप-चप की आवाज के साथ वह लगभग मेरे ऊपर ही चढ़ आया। उससे बचने की कोशिश में मैंने उसका गरदन पकड़ लिया। उसने जोर लगाया। मृत्यु को ठेलते हुए एक आवेग में मेरे मुँह से 'हट-हट' की आवाज निकली। प्रतिक्रिया में कूँ-कूँ करते हुए वह मेरे पैरों में लोट कर जहाँ सीसे का टुकड़ा धँसा था उसको चाटने लगा। मैं आवाक था। मैं जैसे मर कर जिंदा हो गया था। वह मेरा भूरा था। मेरे घर में मेरी ही तरह घोर अभावों में पला मेरा अपना भूरा।

वह इतनी रात को इस समय यहाँ कैसे आया यह सब सोचने का मेरे पास समय ही नहीं था। मैं उसे अंकवार में लेकर थोड़ी देर तक घिघियाता रहा और फिर आखिर में फूट-फूट कर रोने लगा। मैं उसे पाकर इतना बदहवास था कि वहाँ से जिंदा लौटने के बाद जो कुछ अम्मा से कहना था वह सब मैं अपने भूरा से ही कहता रहा। वह भी बीच-बीच में कुछ गुर्रा कर तो कुछ कूँ-कूँ कर हुंकारी भरता रहा, कभी मेरा मुँह, कभी पैर तो कभी मेरे हाथों को चाटता रहा। अभी तक मेरे दुःख, अभाव, लाचारी और रुलाई को जिस भय ने रोक रखा था वह सब फूट पड़े। मैं रोता जा रहा था और उससे सब कहता जा रहा था। सुबह घर से निकलने से लेकर, दुकानदार का उधार चुकाने और बचे हुए सिक्कों के खोने की बात भी। सियारों के हमले वाली बात पर वह गुर्राया, सिक्कों के खोने वाली बात पर उसने मेरी पीठ सहला कर सांत्वना दी। दद्दन तिवारी की पतोहू वाली घटना पर उसने नाराजगी जताई। और सबसे आखिर में जब मैंने उसे यह बताया कि मैं सुबह से भूखा हूँ, तो वह अम्मा की तरह फूट-फूट कर रोने लगा। भूख के बारे में गरीब घर में पले बच्चों और कुत्तों से ज्यादा कौन बतलायेगा।

यह सब कहते-सुनते पता नहीं कितना समय बीत गया, हम दोनों नहर के पाट का सिरहाना लगाये, थोड़ी देर के लिए सो भी गए। जब मेरी आँख खुली तो आसमान में भोर का तारा अकेले और जमीन पर हम दुकेले पड़े हुए थे। भूरा बेफिक्र सो रहा था। सामने गाँव की ओर जाने वाला रास्ता थोड़ा-थोड़ा साफ होने लगा था। मैंने धुंधलके में देखा कि कीचड़ में लिथड़ कर चप्पल के लाल और नीले फिते एक रंग के सुंदर मटमैले हो गये हैं। मैंने भूरे को जगाया और साथ लेकर अम्मा के पास चल दिया।

तब से बहुत दिन बीत गये। किंतु आज भी मुझे अपने जीवन के सबसे भयावह और डरावने क्षणों में किसी मनुष्य और किसी ईश्वर की नहीं सिर्फ और सिर्फ भूरे की याद आती है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

कलंक नहीं ढोएगी सीता

–राजी सेठ

लो राम !
समेटो अपना नामांकित साम्राज्ञीपन
तुम्हारे भवनों में रहकर कलंक नहीं ढोएगी सीता
त्याग देगी तुम्हारे दिए मनोवस्त्र
लौटा देगी लक्ष्मण का तेजोदीप्त सारथ्य
पहनेगी वस्त्र शुभ्र धवल

तुम्हारी शरण के आकांक्षी
पवनसुत बने रहे तुम्हारे ढिग
मेरे लिए तो पवन का प्रवाह पूरा देना-पावना है

भेज मँगाना-राम
किसी दिन अपने राजसुत
वंशज
सातत्य
तुम्हारा राजवंश सीता की कोख का ऋण-पात्री है
लिया ही लिया (अग्नि परीक्षा भी)
जहाँ राज ने
राजा ने
वह रंक ही तो था
उससे कुछ पाने की इच्छा से
मन आमूल खाली है।

तुम रहो उन्नत, उदात्त

लिखे जाओ इतिहास के ललाट पर
मैं धरा के उर्वर अंधकार में
जिस निभिष चाहूंगी
सो जाऊंगी

यह विधान भी मैंने तो नहीं रचा राम
पर जो कुछ उगा है
फूटा है
पल्लवित हुआ है
वह धरती की कोख का आभारी है

आकाश तो अभी तक
अपने पाँव तक नहीं खोज पाया
धरती की क्षितिजाकार बाहों पर टिका
उसका पौरुष प्रत्याक्षी है।

तुम्हें शुभ बना रहे
आकाश
ललाट
उत्तान अनम्यता
में चली सदियों की सुरंग में
जागूंगी
और लिखूंगी इतिहास
ऐसे सम्राट का
जिसने प्रणी होकर भी
मनस्वी होकर
अग्नि आकाश के साक्ष्य का धनी होकर भी
सप्तपदी के वचनों को नहीं माना

दे दिया जंगल को, जो
उसको अपने पार्श्व में रखना था

एक निंदा
एक चर्चा
एक कलंक बनाकर

मैं तो एक ही बार ज्वाला दग्ध हुई थी राम
तुम्हारे मनस्ताप की दाह से तो दारुणता हारेगी।

सुखी नहीं हूँ राम
तुम्हें यह सब कहकर पर
तुमने दिया कहाँ दाय अर्द्धांगिनी के कौशल को
जो करने पर आती है तो
पति की माता बन जाती है

मुझे कहाँ
अपने को निष्कासन दिया तुमने राम
कारा दी अपने को पाषाणी प्रासाद की
रत्नजणित मुकुट कंटकों का
छाया-सा व्रती भाई भी रह जाएगा जब
द्वार के बाहर

तुम्हारे लिए बची रहेगी
विषाद सघन रात

कुंजो की कलित कामिनी में
पवन का स्पर्श पाते ही मैं तो सो ही लूँगी
तुम्हारी अपलक टकटकी
किस निमित
किस दिशा अज्ञात

रात का अधसोया राजा
प्रजा के पाल का दायित्व

निबाह पाएगा कब तक

और प्रजा जो है
वह तो भूल भी जाएगी
दुर्घटना
निष्कासन
तुम्हारा रिक्त पार्श्व
कोलाहल
भूल जाएगी तुम्हारी हार्दिकता
करुणा
मर्यादा परिशीलन

लोग माँगेंगे तुम हो जाओ श्रुति
तुम बन जाओ न्याय
मूर्तिमान धीरज
सहिष्णुता
महिमा

माँगेंगे तुमसे
अविकल रोशनी
दिशा
विकल्प
व्याधिहीनता
निर्विकल्प सुख
स्वाधीनता
संपदा

किसे स्मरण रहेगा राम
तुम्हारे मन के नीचे की ईंट
खील-खील खंड़ित है
पसरा पड़ा है वहाँ हाहाकार

अवरुद्ध क्रन्दन
खोखली टकटकियाँ
अकेलेपन की कीच
गूँगा अंधकार

मैं जहाँ भी हूँ पूरी तो हूँ
फलोल्लासी डाली की तरह
भरी भरी उन्मुक्त
तुम चाहो तो ले लो जो मेरा भाग्य है

यह कथन भी तुम्हें देते नहीं बनता राम
तुम और मैं
जीवन संगी
बाँट नहीं सकते भाग्य
बदल नहीं सकते चौकियाँ
पालथियाँ
कर नहीं सकते दायें को बायाँ
वाम को दक्षिण
ढूँढ नहीं सकते इकट्ठे
भाग्य के जुगनू
हर नया सच
अपनी ही नोक पर
थरथराता रह जाता है

किसलिए फिर रची जाती है भावरें
अनुरागी चंदोबे के नीचे
खेले जाते हैं लग्न-राग
किस लिए दिए जाते हैं दिलासे
झमाझम पौरुष के
सांझे सुखों के
दुखों के

सांझे आगत के
कुछ भी नहीं चलता साथ
नतमस्तक विधान

एक चक्रवर्ती सम्राट
विधि की वल्गा को लेकर
इतना दीनार्थी, इतना लाचार कि
प्रार्थना तक निरर्थक बनी रहे
उद्धिष्ट तक जाने में।

तज नहीं पा रही राम
ऐसे में तुम्हारा घर
तजना
तुम्हारी नहीं पर
तुम्हारे राजत्व की आज्ञा है
प्रजा के नाम पर
जहाँ एक धोबी को भी
प्रतिकार का हक हासिल रहा
मैं साम्राज्ञी
दोहरे दंड के भार से
गूँगी हुई जाती हूँ

क्या करूँ कि जाते
बिदा लेते
तुम्हें ढाढस की ओट बनी रहे
सह्य हो जाता रहे तुम्हें
सीता के बिना रहना
सह्य हो जाए तुम्हें
राजा की महिमा में
व्यक्ति की दारुणता को सह पाना

हर रात
ध्यान से सुनना तुम राम
मैं तुम्हें भेजूंगी
हवा के हिंडोले के साथ
हरित पत्रों का डोलन
जागूंगी तुम्हारे साथ
उसी व्योम में अक्लांत

उठ आऊंगी
जब तुम्हारे राज्य की 'रम्भा'
आ खड़ी होगी हर प्रात

एम-16, साकेत
नई दिल्ली—110017

बस कुछ दिनों की बात है

–कमल कान्त

फिर छाई काली घटायें,
फिर से मन उदास है,
बस!
बस कुछ दिनों की बात है।

फिर ये दिल बिखर रहा है,
जैसे ओलों की बरसात है,
बस!
बस कुछ दिनों की बात है।

फिर नया सूरज उगेगा,
काला अँधियारा छटेगा,
यह रूह की आवाज है,
बस!
बस कुछ दिनों की बात है।

क्या हमें उलझा रहा है,
या कोई सुलझा रहा है,
बेशक फिक्र की ये बात है,
बस!
बस कुछ दिनों की बात है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
कम्प्यूटर विज्ञान एवं अनुप्रयोग विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

कविताएँ

–रामहेत गौतम

1. आस्तीन का सांप

आज फिर वक्त ने ललकारा है
तुम्हें सम्भल जाने के लिए।
अपनों को पराया बना रखा है
तुमने गैरों को अपनाने के लिए।।
जिन सांपों को चाप से पाला था
तुमने हमें डराने के लिए।
वो इतने बड़े हो गये हैं अब,
दौड़ते हैं तुम्ही को खाने के लिए।।

2. वसन्त

वसन्त है वसन्त है
प्रकृति आज लसन्त है।
सृष्टि का नवोन्मेष
जीवन का वसन्त है।
वसन्त है...
कलियों की बहार है,
परागों की बौछार है।
मदमय वयार है,
भौरों की गुंजार है।
वसन्त है...
सरसों की पीत है,
कूकों की रीत है।
फसलों की भीत है,
मंगल का गीत है।
वसन्त है...
किसान मन प्रीत है,
विद्यार्थी ज्ञान गीत है।
सैनिक का संगीत है,
शहनाई की रीत है।
वसन्त है...
सूर्य का समताप है,
आम का ललाप है।
हाथों में शरचाप लिये,
काम का पदचाप है।
वसन्त है...
हृदयों की धड़कन है,
नयनों की फड़कन है।
अंगों का स्पर्शन है,
ओष्ठों का चुम्बन है।
वसन्त है...
प्रकृति का स्पन्दन है,
गुणों का गुन्थन है।
पुरुष का बन्धन है,
सृष्टि का सृजन है।
वसन्त है...

3. जंगल

जुगलबन्दी करते पेड़ जहाँ, वो जंगल है।
नहीं दबाते गला अपनों का, वो जंगल है।
खाने को फल सुस्ताने को छाया, वो जंगल है।
इन्सानों की बस्ती से बेहतर वो जंगल है।
सुरम्य सजती प्रकृति जहाँ, वो जंगल है।
हर रोग का उपचार जहाँ, वो जंगल है।
प्रेम का हो व्यवहार जहाँ, वो जंगल है।
मुक्ति का लगे दरवार जहाँ, वो जंगल है।

4.

धर्म यहीं पर पलता है, फिर समाज में चलता है।
अनर्थों को विदीर्ण कर हर अर्थ इसी में फलता है।
शाकुन्तल में काम दुष्यन्त का यहीं पर फलता है।
निर्वाण भी बुद्ध-महावीर को यहीं पर मिलता है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
संस्कृत विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

गमले में लगा पौधा ही हूँ मैं

–अभिषेक जैन

गमले में लगा पौधा ही हूँ मैं
बुनियाद सिमटी है, बस एक हद में मेरी,
बारिश के बहते पानी से, कहाँ मिला हूँ मैं,
शाखें बढ़ने से पहले, कट जाती हैं मेरी,
आसमाँ के उड़ते परिंदे से, कहाँ मिला हूँ मैं,
दीवारों के सहारे, एक छत के नीचे रहता हूँ
बढ़े दरख़्तों की छाँव से, कहाँ मिला हूँ मैं,
शहर की बुलंद इमारत में
साँतवे माले पे रहता हूँ
एक फ्लेट में।
गमले में लगा पौधा ही हूँ मैं

वरिष्ठ चिकित्सा अधिकारी
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

मंजिल

–महेन्द्र कुमार

घर से मैं चला, बस चलता चला गया,
मंजिल की राह में, बढ़ता चला गया।
आँधियों ने रोका, तूफानों ने रोका,
मैं न रुका, बढ़ता चला गया।
कठिनाइयाँ आयीं, मुश्किलें आई,
लोभ, लालच का भँवर भी लाईं।
मारे ठोकर, मैं न रुका, बढ़ता चला गया।
अपनों ने रोका, गैरों ने टोका,
सुनी न किसी की, बस चलता चला गया,
मंजिल की राह में, बढ़ता चला गया।

निन्दा सुनी, आलोचना सुनी,
नाकारा, अशिष्ट, शब्दों में रमता चला गया
नींद खोई, आँसुओं को पिया
किसी को भी इल्जाम, पर न दिया,
अपनी धुन में, बढ़ता चला गया,
ये जान लो तुम, ये मान लो तुम
रुकूँगा न कभी, झुकूँगा न कभी
कठिनाइयों से, लड़ूँगा तब भी
अब जो घर से, चलता चला गया,
मंजिल की राह में, बढ़ता चला गया।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

माँ

–प्रकाश जैन

1.

मैंने आते-जाते देखा है
बनते मकानों में।
सिर पर तसला रखे,
एक माँ को।

जिसके अबोध बच्चे,
वहीं रेत के ढेर पर,
घरोंदा बनाकर खेलते हैं।
भूख लगने पर,
अपनी माँ की गोद में आकर पेट भर लेते हैं।
और
पता नहीं चलता,
वे बच्चे कब बड़े होते हैं।
लेकिन,
माँ के सिर पर तसला वही,
बस,
स्थान बदलता जाता है।

2.

माँ सुनती है गर्भ में धड़कन,
अपने अजन्मे बच्चे की।
माँ और बच्चे की धड़कन,
से जुड़ा यह रिश्ता,
चलता है जीवन भर।
बच्चा कालांतर में बड़ा होकर,
भूल जाता है,
माँ की धड़कन को
और,
मस्त हो जाता है अपनी दुनिया में।
लेकिन,
माँ..., हाँ, वही माँ,
नहीं भूलती,
वह धड़कन, वह रिश्ता,
आजीवन,
जो बरसों पहले जन्मा था।

3.

एक बच्चे के जन्म से,
महीनों पहले,
बदलती है माँ की दिनचर्या,
बदलती है जीवन-शैली,
बदलती है सोच
और,
बदलता है खान-पान।
जन्म देते ही,
बच्चे का पालन-पोषण,
करती है माँ।

भूख-प्यास, सोना-उठना, ठंडी-गर्मी,
गीले कपड़ों को सुखाना,
स्कूल के लिए टिफिन बनाना,
अपने काम का समय,
आपके समय से मिलाना,
सब कुछ तो करती है माँ।

लेकिन
जब बूढ़ी माँ का तिरस्कार,
अनादर,
अपने बेटों-बहुओं से होता है,
तो... मन रोता है।
काश!
वे अभागे,
माँ... या... धरती माँ,
के उपकार को समझ पाते,
और
वृद्धाश्रम में ताले लग पाते।

वित्त एवं लेखा अनुभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

ग़ज़ल

—नवीन कानगो

1. वही मोड़ है

वही मोड़ है, वही कूचा-ए-जाना है
ये वाकया नया नहीं, बड़ा पुराना है

मेरी फ़ितरत में ये कैसी ख़ानाबदोशी है
अभी पहुँचा भी नहीं हूँ कि अभी जाना है

अभी भी फ़ासले क़ायम हैं पहले दिन जितने
पर उनसे मेरा मरासिम बड़ा पुराना है

चंद अशआर ही साथी बचे हैं गुरबत में
बड़ा गुमाँ था कि मेरे साथ ये ज़माना है

2. ज़ख़्म किसी के

ज़ख़्म किसी के कोई सिलता ही कहाँ है
अजनबी हैं सब, कोई मिलता ही कहाँ है

ग़म-ए-रोज़गार में उलझी है जवानी
अब दिलों में फूल खिलता ही कहाँ है

तालीम किसी दूसरी दुनिया की शै हो गोया
पढ़-लिख गया तो ज़मीन पर मिलता ही कहाँ है

3. मसरूफ़ियत

मसरूफ़ियत भी, हाय! क्या बला है
भीड़ है, शोर है, एक जलजला है

दिल-ए-बेरब्त का मुँह है लटका
चलना है और पाँव में आबला है

हर तरफ इतने साज़-ओ-सामानों के बीच
मेरे दिल में रहती बस एक ख़ला है

प्रोफेसर
सूक्ष्मजीव विज्ञान विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

ग़ज़ल

–'अकबर' सागरी

तुम मुझको मुहोब्ब़त की निग़ाहों से देखा न करो।
ओ मेरी सूरज की किरन जुल्फ़ो को यूँ फेख़ा न करो।

रात को तन्हाइयों में सितारों को देखोगे कब तक।
नींद के आगोश में मेरी किस्मत का लेखा न करो।।

कुदरत का खेल भी कितना निराला है लेकिन।
तुम खिलौनों की तरहा खेल कर हमें फेख़ा न करो।।

हम रुसबाई में भी जीने का शगल रखते है।
तुम अपनी रुबाईयों में अक़्स को देखा न करो।।

हम दो कश्तियों पर सवार होकर निकले हैं 'अकबर'।
डूबना तय है मगर तुम डूबतो को देखा न करों।।

एस.आई.सी. विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

ग़ज़ल

—सेराज खान बातिश

सिमटते टूटते उन चाहतों की याद आई,
बिछड़ गया तो बहुत दोस्तों की याद आई।

किया है ज़िक्र किसी ने भी जब मुहब्बत का,
तुम्हारे प्यार में लिखे खातों की याद आई।

तेरी दयार में औक़ात भूल बैठा था,
जरा सी ठेस लगी और हदों की याद आई।

बड़ी खुशी थी हवा में उड़ान भरते हुए,
वतन से दूर मगर सरहदों की याद आई।

सफ़र-सफ़र ही रहा ज़िंदगी की किस्मत में,
जहाँ पड़ाव पड़ा रास्तों की याद आई।

पहाड़ तोड़ कर हम खुश हुए थे ऐ 'बातिश' ,
पड़ा अकाल तो फिर परवतों की याद आई।

3-बी, बंगाली शाह वारसी लेन, दूसरा तल्ला
फ्लैट नं. 4, खिरिदपुर, कोलकाता-700023

समय की रेखा पर बदलती नारी

–ऋतु यादव

इस संसार की सभ्यता में मानव के अनुपम मूल्य को हमेशा ही समाज ने स्वीकार किया है, और करना भी होगा क्योंकि समाज का उत्थान भी मानव के हर क्रियाकलाप से जुड़ा हुआ है। वक्त के साथ समाज अपनी कहानियाँ गढ़ते हैं। उन कहानियाँ का आधार वह स्त्री होती है, जो इस समाज की रचना करती है।

नारी की स्थिति को वर्णित करती सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'मेरा नया बचपन' की ये चंद पक्तियाँ उनकी व्यापक दृष्टि को इंगित करती हैं–

वह सुख का साम्राज्य छोड़कर
मैं मतवाली बड़ी हुई
लुटी हुई कुछ ठगी हुई सी
दौड़ द्वार पर खड़ी हुई
दिल में एक चुभन सी थी
यह दुनिया अलबेली थी
मन में एक पहेली थी
मैं सबके बीच अकेली थी

हर नारी का सफर एक ऐसा सफर है, जो इन्हीं पंक्तियों के साथ ताउम्र चलता रहता है। इस सफर में एक जैसी उम्मीदों, हौसलों और संकोच के साथ ही वह स्त्री आगे बढ़ी है। दया त्याग और सहानुभूति औरत होने के गुण को पर्याय बना दिये गये। नये रास्ते और नये विचारों के साथ पुरुष हमेशा एक नया संसार खोजता रहा। यह स्थिति किसने पैदा की उस समाज ने जिसमें रिश्तों की शुरुआत ही जटिलताओं से होती है। यह जटिलतायें उस नारी के लिये कठिन चुनौतियाँ हैं हौसलों की उड़ान के साथ उसने इन स्वाभाविक चुनौतियों का सामना करके समाज में अपने आपको स्थापित किया है। नारी की यह शक्ति हमेशा ही ऐतिहासिक रही है। नारी के हर स्वतंत्र निर्णय वह स्वयं ही ओढ़ती है स्त्री होने की सच्चाई के साथ समाज में खुद को साबित करने के लिए उसे पल-पल संघर्ष करना पड़ता है–चाहे वह गाँव हो, घर हो, शहर हो जगह कोई भी हो या उम्र कोई भी हो जिंदगी का हिस्सा होकर भी समय की रेखाओं के साथ उस गुजरती नारी की जिंदगी भी बदली है। ये बदलाव किसी के नाम उसके

काम या सिर्फ उसकी सफलताओं का नही हैं। यह सफर उसने खुद चुना है, आगे बढ़ने के लिये खुद को जिंदा रखने के एहसास के साथ साबित करते हुये आगे बढ़ते हुये चुनौतियाँ लेना ही उसकी बदलती रेखायें है।

पुरातन काल में ऐतिहासिक ग्रन्थों की जानकारी द्वारा नारी को बराबरी का स्तर जीवन के सभी क्षेत्रों में प्राप्त था। इतिहास बताता है कि उस समय समाज में वह बराबरी से हर स्थान पर अपने होने का अहसास कराती थी। उसको शिक्षा दी जाती थी और सबसे महत्त्वपूर्ण बात उन्हें अपने भावी जीवन को संजोने का अधिकार प्राप्त था। उस समय के हमारे ग्रंथों में आज भी गार्गी और मैत्रेयी के नाम का उल्लेख समाज में उनकी महत्त्वपूर्ण स्थिति को दर्शाता है। उस समय का समाज उनको सम्मान के साथ अधिकार भी देता था। शिक्षा, धर्म, व्यक्तित्त्व और सामाजिक विकास में उसका महान योगदान था, पर वक्त के साथ उन मूल्यों में मध्यकाल में गिरावट आई। हमारे देश के संदर्भ में उस गिरावट के कारण दूसरे थे क्योंकि विदेशियों के प्रवेश के साथ हमारे समाज की सोच में परिवर्तन आया जिसके फलस्वरूप बाल विवाह, पर्दा प्रथा, सती प्रथा, जौहर, देवदासी, विधवा विवाह और महिलाओं की आजादी पर रोक उस समय के गिरते सामाजिक स्तर का हिस्सा बन चुकी थीं। हमारे समाज में उस समय भी नारी ने कई स्तरों पर महत्त्वपूर्ण योद्धाओं की भूमिका निर्वाह की। और इन सब के बावजूद उसने साहित्य शिक्षा और धर्म के सहारे और शासक के रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। रजिया सुल्तान, दुर्गावती, नूरजहाँ, जहाँआरा, जेबुन्निशा और जीजाबाई जैसे कई उदाहरण समाज में मौजूद हैं जिन्होंने योद्धा, योग्य प्रशासक और साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान दर्ज की। साथ ही समाज की उन्नति के लिये कई संस्थानों को स्थापित किया। मीराबाई, अक्का महादेवी, रानी जानाबाई, लाल देद ये कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्होंने धार्मिक आंदोलनों द्वारा समाज में सामाजिक न्याय और समानता की पैरवी की। जिसकी पहल समाज के कुछ समुदायों ने भी की, और समाज ने उसकी उपस्थिति को धार्मिक स्वतंत्रता में ही सही पर स्वीकार्य तो किया। राजा राम मोहन राय, ईश्वरचंद विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, मार्था मोल्ड, एलिजा, विलियम केविंडिश, रमाबाई, भगिनि निवेदिता, महादेव गोविंद रानाडे जैसे समाज सुधारकों ने महिलाओं के उत्थान के लिये भारत में सामाजिक संघर्ष की लडाईयाँ लड़ी, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस समय भारत में उपस्थित विदेशी व्यक्तियों ने भी अपना सकारात्मक योगदान दिया। उन्होंने समाज को बतलाया की भारतीय नारी स्वाभाविक रूप से मासूम और सच्चरित्र जरूर है, पर कमजोर नहीं है, और उनको सशक्त करने के लिये अपने उद्देश्यों से समाज में फैली गलत परंपराओं का विरोध किया। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, कित्तूर की रानी चेन्नमा, अब्बक्का रानी, बेगम हजरत महल जैसे कुछ नाम नारी शक्ति के सशक्त नेतृत्व एवं सफल योद्धा के रूप में जाने जाते है, जिनमें युद्ध कौशल एवं अपार प्रशासनिक क्षमता थी। उन्नीसवीं शताब्दी में कई महिला सुधार

आंदोलनों और सशक्तिकरण द्वारा उसकी अस्मिता को पहचान दी गई। साथ ही साथ अन्य नाम चंद्रमुखी बसु, आनंदी जोशी, कादंबिनी गांगुली, भिकाजी कामा, प्रीतिलता, विजयलक्ष्मी पंडित, राजकुमारी अमृत कौर, अरुणा आसफ अली, सुचेता कृपलानी, सरोजनी नायडू, डॉ. एनीबीसेंट, इंदिरा गाँधी यह वे नाम हैं, जिन्होंने पहले शिक्षा प्राप्त की साथ ही आजादी के संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ श्रेष्ठ भारतीय नारी होने के दायित्व को निभाया। बींसवीं शताब्दी में कुछ नारी स्वतंत्रता आंदोलनों ने जन्म लिया महिलाओं को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया पर समाज की मानसिकता के अनुसार इन सबका विरोध हुआ वह कुछ डरी पर झुकी नहीं। कम ही सही पर उसने शिक्षित होने के रास्ते समाज में ढूँढे। आजादी की लड़ाई में उसके रास्ते अलग थे, यहाँ वह समझदार थी, उस समय समाज जो इन आंदोलनो में सक्रिय था उसने महिलाओं कि भूमिका को दरकिनार नहीं किया बल्कि उसकी स्थिति और कार्य को उचित स्थान व सम्मान प्रदान किया। इस समय की नारी गर्वित थी उसका नाम और पहचान छोटे और बड़ों स्तरों पर लिया जाता रहा है, यहाँ नारी ने नारायणी की भूमिका चरितार्थ की। समाज ने उसको स्वीकार किया। इस स्वीकार्यता से उसने अपने कदम आर्थिक स्वावलंबन की तरफ बढ़ाये कुछ कदम ही सही पर वह चली तो समाज झिझका तो वह ठिठकी पर रुकी नहीं। आगे के दशकों में उसने अपनी सीमायें तो जानी पर अंदर ही अंदर उसने अपने मानव होने के अहसास को निखारा, परिवार एवं समाज दोनों के दायरे को समझकर वह निपुणतापूर्वक आगे बढ़ी उसकी सीमायें तय थीं पर उसने अपने कर्त्तव्यों के साथ-साथ अपने अधिकारों को भी गंभीरतापूर्वक लिया। इसमें उसने कुछ नया समावेश किया। अब वह आर्थिक आत्म निर्भरता के साथ समाज के दायरे से बाहर आ रही थी। यहाँ समाज उससे टकराने लगा, क्योंकि उसने समाज के अहं को झकझोरा था। उसने दायरों को तोड़ा। अपनी सीमायें निर्धारित कीं। यह सब उसके शिक्षित होने और सोच बदलने से हुआ, अपनी रेखायें उसने सीधी न मानकर टेढ़ी की और संघर्ष कर उन पर आगे बढ़ी। उसे आत्मविश्वास आया। इसी आत्मविश्वास के सहारे उसने एक नई सदी में कदम रखा, वह बदली हर स्तर पर बदली उसने अपने रहन सहन को बदला, अपनी आदतों को बदला अपने व्यवहार को बदला या यूँ कहिये कि उसने अपनी पहचान को स्त्री और पुरुष की सोच के साथ नहीं बल्कि अपने अनुसार बदला। यह बदलाव सामाजिक संघर्ष का नहीं था। यह बदलाव उसका अपना था यहाँ पर समाज ने स्थितियों से थोड़ा ही सही पर समझौता किया और स्त्री को स्वीकार किया। यह क्या था? उसकी आर्थिक आजादी का परिणाम या फिर उसके शिक्षित होने से बढ़ी उसकी पहचान या समाज को उसने अपने प्रति संवेदनशील बना लिया पता नहीं पर वह बढ़ी बहुत आगे बढ़ी, समय की रेखा पर अब वह उड़ने लगी। इक्कीसवीं सदी तक आते-आते महिलाओं की स्थिति में अपेक्षित सुधार हुआ। महिलाओं में शैक्षणिक, राजनैतिक, सामाजिक, प्रशासनिक, खेलकूद, धार्मिक एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न क्षेत्रों में अपने

सोपान अर्जित किये। वह केवल शिक्षिका, नर्स, चिकित्सक, न बनकर इंजिनियर, पायलट, वैज्ञानिक, तकनीशियन, सेना, पत्रकारिता जैसे नये क्षेत्रों को अपना रही है।

राजनीति

राजनीति के क्षेत्रों में महिलाओं ने नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। भारत में पंचायत राज संस्थाओं के माध्यम से दस लाख से अधिक महिलाओं ने सक्रिय रूप से राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया है। विभिन्न स्तर की राजनैतिक गतिविधियों में महिलाओं का प्रतिशत काफी बढ़ गया है। देश के सर्वोच्च राष्ट्रपति पद पर श्रीमती प्रतिभा पाटिल एवं अन्य मीराकुमारी, सुचेता कृपलानी, सोनिया गाँधी, सुमित्रा महाजन, मायावती, वसुन्धरा राजे, सुषमा स्वराज, जयललिता, ममता बनर्जी, शीला दीक्षित, नजमा हेपतुल्ला, निर्मला सीतारमन, जैसी अनेक महिलायें आज भी राजनीति के क्षेत्र में शीर्ष पदों पर सुशोभित हैं।

सामाजिक

सामाजिक क्षेत्र में भी मदर टेरेसा, मेधा पाटकर, श्रीमती किरण शॉ मजूमदार, सुधा मूर्ति, इरोम चानू शर्मिला, अरुणा राय, किरण बेदी, प्रमिला नसारगी, लक्ष्मी अग्रवाल, शाहीन मिस्त्री, अरुंधती राय, कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि नाम जिन्होंने विश्वस्तर पर अपने समाज के लिये किये संघर्षों द्वारा न केवल राष्ट्रीय बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त की।

प्रशासनिक

अन्ना चांडी, एम फातिमा, अन्ना राजम मल्होत्रा, चंदा कोचर, इंदिरा नूई, अरुंधति भट्टाचार्य, रेणू सूद, चित्रा रामकृष्ण, शिखा शर्मा, इला भट्ट, विजय लक्ष्मी अयूयर, अर्चना भार्गव, नैना लाल किदवई, कल्पना मोरपारिया, इंदिरा राजारमन, उषा सांगवान, अर्चना रामसुंदरम, मीरा बोरवांकर, सोनिया नारंग ने प्रशासन के क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित किये।

खेल

भारतीय महिलाओं ने खेल के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हासिल की हैं। भारत की कुछ प्रसिद्ध महिला खिलाड़ियों में पीटी उषा, जे जे शोभा, कुंजरानी देवी, डायना एडल्जी, अंजू बॉबी जार्ज, कमलजीत सिंधु, सुनीता जैन, सानिया मिर्ज़ा, साईना नेहवाल, अंजू चोपड़ा, पी.वी. सिंधु, मिताली राज, मेरीकॉम, दीपिका पल्लीकल कार्तिक, कर्णम मल्लेश्वरी, कोनेरु हम्पी, अंजलि भागवत, गीता फोगाट, साक्षी मलिक, दीपिका कुमारी, ज्वाला गुट्टा, झूलन गोस्वामी, बछेन्द्री पॉल, अंशु जमसेंपा, अरुणिमा सिन्हा आदि ने नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं।

कला और मनोरंजन

एम. एस. सुब्बु लक्ष्मी, गंगूबाई हंगल, शमशाद बेगम, गीता दत्त, नरगिस, मीना कुमारी, नूरजहाँ, सुरैया, लता मंगेशकर, आशा भोंसले, सुधा चंद्रन, उषा उत्थुप, सुष्मिता सेन, ऐश्वर्या राय, अंजलि इला मेनन, शुभा मुद्गल को भारत में काफी सम्मान मिला।

पुनीता अरोडा और प्रिया झिंगन जैसी महिलाओं ने भारतीय सेना में इतिहास रचा। प्रेम माथुर, कैप्टन दुर्गा बनर्जी और हरिता कौर देओल ने उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय एअर लाईंस की पहली महिला पायलेट बनकर इतिहास रचा। अंतरिक्ष में पहुँचने वाली पहली भारतीय महिला कल्पना चावला अंतरिक्ष यात्री के रूप में अमर हैं। सुनीता विलियम्स ऐसी महिला अंतरिक्ष यात्री हैं जिन्होने लगभग 195 दिनों तक अंतरिक्ष में रहने का रिकार्ड अपने नाम किया है। अवनि चतुर्वेदी, भावना कंठ एवं मोहना सिंह ने भी इतिहास रचकर भारतीय वायुसेना की महिला फायटर पायलट बन गई।

अब उसके हौंसले परवान चढने लगे हैं। उसने अपने कदमों की चाल को कठिन राहों पर तेजी से आगे बढ़ाया है। माननीय मूल्यों पर उसके साथ आशा की नई किरणें हैं, आम आदमी के देखने और सोचने के नजरिये को बदलने के साथ नई बौद्धिक और व्यावहारिक सोच और जोश के साथ वह आगे बढ़ रही है। यहाँ पर उसके साथ उसके अधिकार हैं, कानून हैं, योजनायें हैं, और इन सबका निर्वहन करने के लिये उसके पास जानकारी है, पर वह यहाँ पर भी टकराव नहीं चाहती। वह समाज का विकास चाहती है, वह जानती है, समाज में हमेशा उसकी स्थिति एक सी नहीं रही, रास्ते उसने स्वयं बनाये, समय के साथ रेखाओं को बदला समाज को बदला और उन्ही रेखाओं पर यह समाज भी बदला। इस सफर में स्त्री होने के अहसास के साथ उसके पास पारिवारिक उत्तरदायित्यों के साथ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और वैश्विक अवसरों के द्वार उसने अपने लिये खोल लिये। अपने को अहम् मुद्दा मानकर उसके सपने कल, आज और कल हमेशा रहे। यह उसके बदलाव की रेखायें हैं उसके सपने अब उड़ रहे हैं, अब वह भी नई दुनिया, नये विचारों के साथ नये-नये रास्तों पर अपनी खींचीं रेखाओं के साथ संतुष्टि के भाव से बदल रही है, यह है आज की बदलती नारी।

हर नारी का अपना आसमान होता है बस जरूरत रहती है उसमें उड़ान भरने की। अब महिलाओं का संसार पहले जैसा नहीं रहा। समय के अनुसार अब उड़ान भर रही हैं। हर जगह महिलाओं की यह बदली हुई दुनिया उनके अपने होने का प्रत्यक्ष सबूत दे रही हैं। अब उनके नयनों में कई नये-नये सपने हैं उन सपनों की चमक उनकी आँखों में है। उनके सामने नई-नई चुनौतियाँ है, उन चुनौतियों को ओढ़कर वह अपनी पहचान को खुद ही परिभाषित कर रही है, वे अपने 'स्व' की रचना खुद ही कर रही है। वक्त के साथ हर महिला कुछ न कुछ नई कहानी कहती नजर आती है, यह कहानी एक नये परिवर्तन को दर्शाती है, यह परिवर्तन उसके नारीत्व के साथ एक स्वतंत्र और परिपक्व व्यक्तित्व के रूप में उभर रहा है। एक महिला का सामाजिक जीवन दो भागों में बँटा रहता है, उनकी सक्रियता की बंधनों में बाँधकर समाज उनके सक्रिय जीवन को रोकता है, उसको बार-बार अहसास कराया जाता है पारिवारिक जीवन ही अब उसके सपने हैं। उसकी सारी आकांक्षायें इन्हीं दायित्वों के आसपास सिमटा दी जाती है धीरे-धीरे उसने

इन दायरों के पास जाकर अपने वजूद को विस्तृत किया। उसने अपने कर्त्तव्य क्षेत्र को बढ़ाया यह सब शिक्षा के दायरे के बढने से संभव हुआ। वह खुश रहती है क्योंकि उसमें खुश रहने की क्षमता है, जो उसको खूबसूरत बनाता है, उसके सपनो को पंख देता है।

उसमें जुनून है कुछ कर गुजरने, बुलंद हौसलो के साथ कई जगह अब वह मिसाल बन गई है। शिक्षा के सहारे उसने अपनी हिम्मत को बटोरा है, उसने विश्वास हासिल किया बदलाव का। अपनी लगन और प्रतिभा संपन्न गुणों को वो अपनी मेहनत से निखार रही है। जिससे समाज में ये सपनों से महत्त्वाकांक्षी बन रही है उनकी उम्मीदों में आत्मविश्वास झलकता है। हर सपने के साथ वह कुछ नया करना चाहती है। इसके लिये उसमें धैर्य है, संघर्ष करके विपरीत परिस्थितियों में आगे बढ़ने का उसमें साहस है। उसका हर संघर्ष नया कीर्तिमान बन कर समाज के सामने है। यह संघर्ष सिर्फ उसके व्यक्तित्व की पहचान है। आवाज उठने के साथ उसके अस्तित्व का जमीनी स्तर पर संघर्ष बड़ा है। घर की जिम्मेदारी के साथ-साथ अब उसने बाहर की जिम्मेदारी भी ओढ़ ली है जो उसके अस्तित्व से जुड़ी है। उसने अपने परिवेश के अनुसार सपनों को चुना है जहाँ वह अपनी नई जमीन तलाशती है। शिक्षा से उसके निर्णय नई सोच से परिपूर्ण है, आर्थिक और मानसिक आजादी को ओर वह पल-पल कठिन चुनौतियों से जूझती है। कहते हैं सपने रंगीन होना चाहिए क्योंकि एक अच्छी जिंदगी में हमेशा खुशियों के रंग भरे होते है, जिसमें आनंद के साथ-साथ प्रकृति भी अपने रंग भर देती है, यह सपने मन से आते हैं, आगे बढ़ने की उड़ान एक नारी के मन की मुकम्मल पहचान है।

आज उसे उसके महिला होने पर गर्व है उसका मन उसको लेकर हमेशा एक नई यात्रा पर है, वह हर जगह अपनी गरिमापूर्ण उपस्थिति को दर्ज कराती है, सबसे ज्यादा खुशी वह क्षण देते हैं जब उसकी उपस्थिति समाज में आत्मविश्वास से भरी हुई एवं स्वाभिमान से परिपूर्ण होते हुए उसे आत्मसंतोष के शिखर पर ले जाती है परिपक्वता के साथ वह समाज एवं खुद के लिये जीना सीख रही है, बढ़ती सकारात्मकता के साथ ये बदलाव समाज के आगे बढ़ने की दिशा में प्रशंसनीय है।

और अंत में सुभद्रा कुमारी चौहान के ही शब्दों में–

सुख भरे सुनहरे बादल रहते हैं मुझको घेरे
विश्वास प्रेम साहस है जीवन के साथी मेरे।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
रसायनशास्त्र विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संविधान की उद्देशिका और कवि धूमिल

—अफरोज बेगम

भारतीय संविधान में वर्णित है—भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाजवादी पंथ निरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए उसके समस्त नागरिकों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठता और अवसर की समता करने के लिए उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख, 26 नबंवर 1949 ई. को एतद् द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं।

भारतीय संविधान की इस उद्देशिका को कुछ अराजक तत्व दरकिनार कर समाज में अराजकता, भ्रष्टाचार, साम्प्रदायवाद, आतंकवाद, असमानता फैला रहे हैं और ऐसी परिस्थितियों के कारण बार-बार हम लोगों के जेहन में अनेक सवाल टकराते हैं कि क्या हम वाकई स्वतंत्र है? क्या भारतीय संविधान की उद्देशिका के अनुरूप हम भारत को समाजवादी, पंथनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य बना पाये हैं? क्या सभी लोग समान रूप से विचाराभिव्यक्ति कर पाते हैं एवं समान रूप से न्याय मिल पाया है? मेरा मानना है कि नहीं। समाज का प्रतिबिम्ब ही साहित्य है और समकालीन साहित्य में वह शक्ति लगातार नजर आ रही है, जो जंगलराज और अराजक तत्त्वों को जड़ सहित उखाड़ फेंकने के लिए लगातार प्रयासरत हैं। मेरे विचार से भारतीय समाज में रह रहे, बुद्धिजीवी वर्ग को चाहिए कि आम जनता को जागरुक करें। आज संविधान की उद्देशिका मात्र पन्नों पर ही सिमट कर रह गई है, अतः कानून और प्रशासन को जनहित के मद्देनजर एक कड़ा नियम बनाना चाहिए, ताकि सभी में एक डर बना रहे और संविधान के उल्लंघन पर उन्हें कड़ी से कड़ी सजा मिल सके। बात जब शोषण की हासिये पर खड़े लोगों की या फिर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक विद्रूपताओं की हो तो एक ऐसे ही समकालीन कवि हमारे जेहन में लगातार सामाजिक विद्रूपताओं, राजनैतिक विद्रूपताओं का बखिया उधेड़ते हुये नजर आते हैं, जिनके काव्य के इर्द-गिर्द समकालीन देश, समाज, लोकतंत्र, संसद का नग्न रूप हमारे सामने दिखाई देने लगता है, वह हैं ''सुदामा पाण्डेय धूमिल''।

साहित्यकार अपने साहित्य में एक आदर्श राज्य को स्थापित करने का लगातार प्रयास करता है चाहे वह भक्तिकाल में हो या फिर आज के कवि हों, सभी ने अपने समय और समाज

को सही दिशा तथा दशा प्रदान करने की कोशिश की है। रैदास जिसे 'बेगमपुर' कहते हैं, और तुलसीदास 'रामराज्य', इसी को यूटोपिया भी कहा गया है। धूमिल ने भी ऐसे ही समाज की कल्पना करनी चाही है, जहाँ सभी सुख और शांति से जीवन यापन कर सकें।

अनेक साहित्यकार हैं जो अपनी कृति के द्वारा जोखिम भरी अभिव्यक्ति का खतरा उठाने के लिए तत्पर रहे हैं। हमेशा से ही साहित्यकार सामाजिक मुद्दों को अपना विषय बनाकर लोगों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। आज समाजवाद की परिभाषा पूरी तरह से बदल गई है, क्योंकि आज का व्यक्ति सिर्फ और सिर्फ अपने लिए ही जी रहा है। स्वार्थवश ही वह किसी से मिलता-जुलता है। आज देखा जाये तो समाजवाद का स्थान व्यक्तिवाद ले रहा है। इस संदर्भ में हिंदी साहित्यकोश, भाग-1 में लिखा है—''समाजवाद एक समष्टिवादी विचारधारा है। व्यक्तिवाद की स्वाभाविक प्रतिक्रिया समाजवाद है। सामाजिक न्याय को अधिष्ठित करने के लिए विषमता के हर एक स्वरूप को नष्ट करना आवश्यक है''।[1] इसी क्रम में आगे लिखा हैं ''समाजवाद का प्रभाव अनिवार्य रूप से प्रत्येक साहित्य पर पड़ा है, क्योंकि उसने कलाकार की सजग चेतना को नई दिशाओं का संकेत दिया है''[2] संविधान की उद्देशिका में वर्णित समाजवाद की परिभाषा का मतलब सिर्फ व्यवस्था विशेष ही नहीं हैं, अपितु वह एक सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली और व्यापक जीवन-दर्शन हैं।

धूमिल की कविता भी संविधान की उद्देशिका में वर्णित आजादी की तलाश में आज तक प्रयासरत है। उनका मानना है कि आज आजादी सिर्फ नाम की ही रह गई है। जब देश आजाद हुआ तो,

''मैंने कहा आजादी
मुझे अच्छी तरह याद है—
मैंने यही कहा था
मेरी नस-नस में बिजली
दौड़ रही थी
उत्साह में
खुद मेरा स्वर था
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर
स्कूल नहीं जायेगा
अब कोई छत बारिस में नहीं टपकेगी।
सूर्य हमारा सपना है
मैं इंतजार करता रहा

मैं इंतजार करता रहा
जनतंत्र, त्याग, स्वतंत्रता
संस्कृति, शांति, मनुष्यता
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वादे थे
खुशफहम इरादे थे।"[3]

धूमिल देश की आजादी का चाक्षुस बिम्ब चित्रित करते हैं, जहाँ आजादी सुनहरा और झूठा वादा था। धूमिल न आजादी बल्कि समाजवाद, जनतंत्र, जनता, देश सभी पर भी व्यंग्य करते हैं। समकालीन सामाजिक व्यवस्था का ढ़ाँचा पूरी तरह चरमरा गया है। आज के सामाजिक व्यवस्था को चरमराता देख कर, उन्हें बड़े अफसोस के साथ कहना पड़ रहा है कि—''मगर मैं जानता हूँ । मेरे देश का समाजवाद माल-गोदाम में लटकी हुई उन बाल्टियों की तरह है, जिसमें आग लिखा हैं और उसमें बालू और पानी भरा है'' ।[4] धूमिल लोगों को लगातार समझाने का प्रयास करते हैं कि तुम मूर्ख क्यों बने हो? अब भी वक्त है, तुम सचेत हो जाओ कि कोई स्वार्थी व्यक्ति तुम्हें ठग न सके इसलिए वह कहते हैं, ''जनता क्या है? एक शब्द सिर्फ एक शब्द।"[5] कुहरा और कीचड़ से बना हुआ एक भेड़ है, जो दूसरों की ठण्ड के लिए अपनी पीठ पर उनकी फसल रोप रही है''।[6]

धूमिल को अपने देश की आम जनता के प्रति दया उमड़ती है और उनसे कहते हैं कि तुम इतने सीधे क्यों हो कि कोई भी चालाक व्यक्ति तुम्हें ठग ले। आजादी के बाद देशभक्ति की परिभाषा भी बदली है। हमारे चारों ओर धुंध और कोहरा छाया हुआ है। यानी चारों ओर ऐसे भ्रष्ट और अराजक लोग बस गये हैं जो अपने को देशभक्त बताते हैं। इन लोगों ने अपने चेहरे पर मुखौटा पहन रखा हे। जनतंत्र क्या? शीर्षक में कहते हैं—''हर तरफ धुआँ है, हर तरफ कुहासा है। जो दाँतों और दलदलों का दलाल है वही देशभक्त है।''[7] प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थी बन गया है। लोग एक-दूसरे से घृणा करने लगे हैं। धूमिल को अपना देश ही जेल लगने लगता है अतः आक्रोशित होकर कहते हैं ''घृणा में डूबा हुआ सारा का सारा देश पहले की तरह ही आज भी मेरा कारागार है''।

धूमिल का सम्पूर्ण काव्य मुक्ति की तलाश में प्रयासरत् दिखाई पड़ता है। जनतंत्र और संसद जैसे शब्दों का अधिक प्रयोग धूमिल की कविता की राजनैतिक जागरूकता को बताती है। आजादी के बाद भारतीय जनतंत्र से बुद्धिजीवियों ने जो आशायें लगा रखी थीं, वे पूरी नहीं हुई। देश के जननायक सत्ता और कुर्सी के जोड़-तोड़ में रहे, फाइलों में योजनाएँ बनती रहीं। भाषण और भोज होते रहें, खोखले नारे लगाये जाते रहें। सरकारी अफसर अपने कृत्रिम अभिजात्य के नशे में और नेताओं का संरक्षण प्राप्त कर शोषण करता रहा और इन सबके कुचक्र

में देश का मामूली आदमी पिसता रहा। इन कटूस्थितियों का बयान सन् साठ के बाद की हिन्दी कविताओं में बहुत हुआ है। धूमिल ने सन् साठ के बाद उभरी पीढ़ी के एक महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनकी कविता भारतीय जनतंत्र की इन स्थितियों का सीधा साक्षात्कार करती है। राजनीति, ढोंग, छल, पाखण्ड़ और उसकी मानव विरोधी हरकतों पर धूमिल की कविता कड़ा प्रहार करती है।[8] धूमिल ने भारतीय लोकतंत्र का पतनोन्मुख रूप, भ्रष्ट राजनीति में सामान्य जन का कराहता, निरीह, असहाय रूप, सत्ताधारी नेताओं का दुहरा चरित्र, उनकी स्वार्थपरता, पद लोलुपता, संसद के भीतर का हास्यापद चित्र तथा पूरी तरह से अपने समय और समाज का शब्दचित्र उपस्थित किया है। राजनीति के विघटनकारी मूल्यों एवं तत्त्वों के प्रति घोर निराशा और गहरा असन्तोष प्रकट किया है।

धूमिल ने चुनाव, नेता, नीतियाँ, योजनाएँ, न्याय-व्यवस्था, नौकरशाही, वोट, जुलूस, संसद, मतदाता, संविधान जैसी शब्दावलियों का भी प्रयोग करते हैं। इन शब्दावलियों के द्वारा राजनीतिक मुहावरे को उद्घाटित करते हैं और लोकतंत्र में व्याप्त अमानवीय संकट को अपने कविता की वाणी से दूर करने का प्रयास करते हैं। ''निहत्थे आदमी से कहा'' कविता में आप आज के वास्तविक हकीकत से रू-ब-रू कराते हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति ''बाहर आजादी से और भीतर अनाज से लड़ता है।''[9] यह विडम्बना ही है कि ''इतनी हरियाली के बावजूद अर्जुन को नहीं मालूम उसके गालों की हड्ड़ी क्यों उभर आयी है उसके बाल सफेद क्यों हो गये हैं, बैठा हुआ आदमी सोना और इतने बड़े खेत में खड़ा आदमी मिट्टी क्यों हो गया है।''[10] वास्तव में मेहनत करने वालों को उचित पारिश्रमिक का न मिलना ही उसे दिन पर दिन गरीब बनाये जा रही है और पूँजीपति और ज्यादा अमीर होते जा रहे हैं। इसलिए धूमिल की धुँधुआती आँखें उसे आजादी के घोषणा-पत्र यानी की भारतीय संविधान की उद्देशिका को सही मायने में लागू करना चाहते हैं, जहाँ समस्त नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय की उद्घोषणा की गयी है। धूमिल आजादी के घोषणा-पत्र सवालिया निशान दागते हुए कहते हैं—''धुँधुआती आँखें पढ़ना चाहती हैं, आजादी का घोषणा-पत्र किसने चुराई है रोशनी? अन्न और वस्त्र कहाँ है, तुम्हारे कहाँ है मेहनत पर जीने की कौल?''[11]

धूमिल कहते हैं कि आम जनता के आँखों से खुशी तथा चेहरे से मुस्कान छिनने वाला कोई और नहीं बल्कि ये सत्ताधारी भेड़िये ही हैं, जो समाज को दीमक की तरह चाटे जा रहे हैं। 'रोटी और संसद' कविता में शोषक और शोषित दोनों को चित्रित करते हुए राजनीति व्यंग्य द्वारा देश की संसद को ही कटघरे में लाकर खड़ा कर देते हैं। ऐसा इसलिए कि सारे घोषणा-पत्र संसद में तो बना दिये जाते हैं और वहाँ बैठे लोग खुद ही उन घोषणाओं का उल्लंघन करते हैं। और उल्लंघन करना भी लाजिमी है इनके लिए, क्योंकि ये नियम, कानून तो सिर्फ आम जनता के लिए होता है। या फिर यों कहें कि भ्रष्ट तथा चोर के लिए कानून नियम नहीं। ये

लोग अगर गलतियाँ करें तो सौ खून माफ हैं। अतः धूमिल आवेशित होकर तीखा कटाक्ष करते हैं तीसरा व्यक्ति पर जिसकी वजह से देश में जंगलराज कायम होता जा रहा है। इन्हीं के चलते चुनाव नीतियाँ, योजनाएँ, न्याय-व्यवस्था, मतदान, संसद, सामाजिक, आर्थिक स्थितियाँ, भाईचारा, देशप्रेम, जनतंत्र, समाजवाद सभी पूरी तरह क्षतिग्रस्त तथा बाधित हुई हैं। इन शब्दावलियों के सही मायने भी बदल गये हैं–

"एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो ना रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ–
'यह तीसरा आदमी कौन है?'
मेरे देश की संसद मौन है।"[12]

वास्तव में तीसरा आदमी सफेद नकाब पेशों का चेहरा है, जो आदमी की भेस में भेड़िया है। वह मुखौटा लगाया दरिन्दा अपने सारे विरोध को अपने पक्ष खड़ा कर लेता है और तब कोई कुछ नहीं कर सकता है।

ऐसे दरिन्दों के भयावह रूप को दिखाने की कोशिश करते हैं–

"जो आदमी के भेस में
शातिर दरिन्दा है
जो हाथों और पैरों से पंगु हो चुका है
मगर नाखून में जिन्दा है
जिसने विरोध का अक्षर-अक्षर
अपने पक्ष में तोड़ लिया हैं"।[13]

धूमिल की कविता सत्य की सुरक्षा और न्याय कायम करने के लिए लगातार जद्दोजहद करती है। आज के दौर में लोग स्वार्थवश कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। प्रत्येक आदमी सहानुभूति, प्यार, आत्मीयता, अहिंसा, ईमानदारी, विवेक की आड़ में दूसरों को ठगता और छलता है, अतः मायूस होकर कहते हैं–

"सिर्फ एक शोर है
जिसमें कानों के पर्दे कटे जा रहे हैं
शासन सुरक्षा रोजगार शिक्षा

राष्ट्रधर्म, देशहित, हिंसा, अहिंसा
सैन्यशक्ति, देशभक्ति, आजादी वीसा
वाद, विरादरी, भूख, भीख, भाषा
शान्ति, क्रान्ति, शीतयुद्ध, एटमबम, सीमा
एकता सीढ़ियाँ, साहित्यिक पीढ़ियाँ, निराशा
झायँ-झायँ, खाँय-खाँय, हाय-हाय सायँ-सायँ।''[14]

धूमिल ने भारतीय लोकतंत्र का पतनोन्मुख एवं भ्रष्ट राजनीति में सामान्य जन जीवन की कराह, निरीहता दिखाने का प्रयास कर लोगों से अनुरोध करते हैं–

''सुनो!
तुम चाहे जिसे चुनो
मगर इसे नहीं। इसे बदलो।''[15]

राजनीतिक विषमताओं के कारण धूमिल अपनी कविता में 'सार्थक और न्यायपूर्ण जिन्दगी की तलाश' में प्रयासरत है। रचना में विकल्प की तलाश उन रचनाकारों में बहुत स्पष्ट दिखाई देती है, जो अपने समय से सन्तुष्ट नहीं होते और उसमें गुणात्मक परिवर्तन की आकांक्षा रखते हैं। विकल्प तलाशते हुए धूमिल की कुछ सीमाएँ हैं, जैसे स्वयं को सही परम्परा से जोड़े रहने की इच्छा और विकल्प खोजने में धूमिल को अनेक यातनाओं से गुजरना पड़ा। पूँजीवादी समाज की संक्रमणशील व्यवस्था के अन्दर से वह अपनी राह तलाशते हुए डंके की चोट पर कहते हैं–

''मुझे अपनी कविताओं के लिए
दूसरे प्रजातंत्र की तलाश है।''[16]

समर्थ रचनाएँ साक्षात्कार के बिन्दु पर रूक नहीं जाती, अपितु उन दुष्प्रवृत्तिओं से संघर्ष करती हुई, अपनी 'विराट दृष्टि या विजन' के सहारे एक विकल्प भी चाहती है और वह है–"उच्चतर मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा।''

धूमिल की कविता सत्य की सुरक्षा और न्याय कायम करने के लिए लगातार जद्दोजहद करती है। धूमिल की कविता शब्दों पर शान चढ़ाने का काम शुरू करती है। और आदमी के दर्दीले गले से अगिन-गीत फूट पड़ता है। धूमिल की कविता अकेले व्यक्ति को सामूहिकता देकर उसमें साहस भरने का कार्य करती हैं। उनके शब्दों में वह सक्रियता है जो लोगो में उत्साह भरने का कार्य करता है–''शब्द किस तरह/कविता बनते हैं/इसे देखो/अक्षरों के बीच गिरे हुए आदमी को पढ़ो।''[17]

धूमिल जनकवि होने के नाते जनता को जागृत और प्रेरित करना अपना लक्ष्य मानते हैं। उनका मानना है कि स्वप्नदर्शी जन को कठोर कर्म की धरती पर सचेत करके खड़ा करना अनिवार्य है। अतः वे आम जनता को उद्‌बोधित करते हुए कहते है–

''अपनी आदतों में/ फूलों की जगह पत्थर भरों
मासूमियत के हर तकाजे को/ठोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनीऊब को आकर दो।''[18]

जनवादी दृष्टिकोण होने के तहत धूमिल की कविता मे साम्यवादी वैचारिकता भी दिखाई पड़ती है– ''मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।'' उनकी निगाह में न कोई छोटा है न कोई बड़ा है। वास्तव में देखा जाये तो प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ खामियाँ जरूर होती है और धूमिल की सम्पूर्ण काव्ययात्रा संसद से प्रारम्भ होकर सड़क पर आकर खत्म होती है। धूमिल साहित्य में उफनती हुई भाषा का प्रयोग कर, सम्पूर्ण बदलाव की आकांक्षा की धार को लगातार तेज करते हुए, संघर्ष की विद्रोही चेतना को तराश दिया है तथा कविताओं में समकालीन सामाजिक, राजनैतिक यथार्थ से उत्पन्न मानवीय पीड़ा से मुक्ति के स्वर की गूँज ध्वनि होती है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

संदर्भ -

1. हिन्दी साहित्य कोश, भाग 1, पारिभाषिक शब्दावली, सम्पादक मण्डल, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान), ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, पृ. 726
2. वही, पृ. 728
3. संसद से सड़क तक, पटकथा, सुदामा पाण्डेय धूमिल, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 99-101
4. वही, पृ. 115-116
5. वही पृ. 104
6. संसद से सड़क तक, पटकथा पृ. 105
7. वही, पटकथा पृ. 115-116
8. समकालीन हिन्दी कविता, आचार्य विश्वनाथ तिवारी, पृ. 129
9. सुदामा पाँड़े का प्रजातंत्र, निहत्थे आदमी से कहा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 87
10. वही, हरितक्रान्ति पृ. 88
11. वही, हत्यारे (दो) धूमिल, पृ. 95
12. कल सुनना मुझे, रोटी और संसद, धूमिल पृ. 33
13. संसद से सड़क तक, मुनासिब कारवाई : धूमिल पृ. 86
14. संसद से सड़क तक, पटकथा, धूमिल पृ. 117
15. वही, पृ. 112
16. वही, नक्सवाड़ी, पृ. 66
17. कल सुनना मुझे, धूमिल की अंतिम कविता, पृ. 80
18. संसद से सड़क तक, पटकथा, पृ. 137

समतामूलक समाज और आम्बेडकर के विचार

–नंदी पटोदिया
–दिवाकर शर्मा

भारत की सामाजिक समरसता की भूमिका में डॉ. भीमराव आम्बेडकर के विचार और कार्य दोनों सराहनीय है। डॉ. आम्बेडकर एक बड़े समाजिक चिंतक एवं समाजशास्त्री के रूप में भारतीय समाज में ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व में विख्यात हैं। यदि 21वीं शताब्दी को आम्बेडकर शताब्दी कहा जाए, तो इसमें कोई शक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण भारत के अलावा अन्य देशों में आम्बेडकर के विचारों एवं कार्यों को आम्बेडकर शताब्दी के रूप में मनाया जा रहा है। डॉ. भीमराव आम्बेडकर सिर्फ दलितों की वकालत नहीं करते हैं, बल्कि सभी मानव जाति समाज के हक की बात करते हैं। डॉ. भीमराव आम्बेडकर एक ऐसे महामानव थे, जिनका दिल हर शोषित और पीड़ित के लिए धड़कता था। उन्होंने संविधान के द्वारा सामाजिक न्याय को जमीन पर उतारने का काम किया। वे भारत के संविधान निर्माता होने के साथ-साथ महान समाज सुधारक, अर्थशास्त्री और उच्च कोटि के विद्वान भी थे। कन्हैयालाल चंचरीक के अनुसार ''निःसंदेह पुणे में सामाजिक परिवर्तन, दलित-शूद्रों में शिक्षा के प्रति जागरूकता तथा जातिप्रथा और अस्पृश्यता के निवारण, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार का जो सूत्रपात फुले ने किया था, उसे बीसवीं सदी में डॉ. आम्बेडकर के दलित आंदोलन और दक्षिण भारत और महाराष्ट्र के गैर-ब्राह्मण आंदोलन के नेताओं ने वैचारिक आधार प्रदान किया और सामाजिक-राजनीतिक तथा संवैधानिक अधिकार प्राप्त करने में आशातीत सफलता प्राप्त की।''[1] इस प्रकार ज्योतिबा फुले, पेरियार और सावित्री फुले के आन्दोलन को आम्बेडकर ने आगे बढ़ाया।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर के विचार से सामाजिक समरसता का अर्थ है कि आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक रूप से सभी वर्गो को समान अधिकार प्राप्त हो। डॉ. आम्बेडकर आधुनिक भारत के महान चिंतक, दार्शनिक, अर्थशास्त्री, विधिवेत्ता, शोषितों के मुक्ति नायक, संघर्षशील, सामाजिक कार्यकर्ता व संविधान निर्माता के रूप में जाने जाते है। वे स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के क्रांतिकारी आदर्शों को भारतीय समाज में स्थापित करना चाहते रहे। डॉ. आम्बेडकर के अनुसार जो भी प्रथा, परंपरा, विचारधारा, कानून या धार्मिक मान्यता इन मूल्यों-आदर्शों को प्राप्त करने में बाधक है, उनके वे प्रबल आलोचक रहे। उन्होंने

जाति प्रथा, ऊँच-नीच, छुआछूत, पूँजीवादी एवं सामन्ती विचारधारा व शोषण की तमाम प्रणालियों का इसी आधार पर आलोचना ही नहीं की, बल्कि ऐसा बहुआयामी सटीक वस्तुपरक विश्लेषण भी रखा, जो निम्न वर्गों में चेतना, जागरूकता और आत्मविश्वास पैदा करता आया। डॉ. आम्बेडकर के मतानुसार ''अछूतों के लिए भेदभाव की समस्या, उनके लिए अपनी मानवीयता की पुर्नप्राप्ति की समस्या के बाद दूसरी गंभीर समस्या है। अछूतों के विरुद्ध भेदभाव हिन्दुओं के द्वारा इतने विशाल पैमाने पर किया जाता है, कि कोई बाहरी व्यक्ति उसकी कल्पना तक नहीं कर सकता। जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिसमें अछूतों और हिन्दुओं के बीच प्रतिद्वंद्विता न हो और जिसमें अछूतों को भेदभाव का शिकार न होना पड़ता हो। इसका स्वरूप भी अत्यंत उग्र है।''[2] भारतीय समाज में असमानता समाज का महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी थी, यदि समानता की गूँज भारत में आम्बेडकर के द्वारा नहीं लायी जाती, तो उसका कुछ दूसरा रूप आज होता। जो देश की एकता में बाधक होती।

डॉ. आम्बेडकर लोकतांत्रिक समाज का निर्माण करना चाहते थे और इसके लिए समानता और बंधुत्व को आवश्यक शर्त मानते थे। वंचितों, दलितों, पिछड़ों को इसी कारण विशेष अवसर देने के पक्ष में थे। उनके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक चिंतन का मुख्य तत्व समानता और समरसता है, जिसकी बुनियाद पर ही कोई वास्तविक लोकतंत्र बन सकता है। समाज में समानता स्थापित करने के लिए वे राज्य की भूमिका को महत्त्वपूर्ण मानते थे। राज्य को कल्याणकारी दायित्व सौंपने की उनकी दलीलों के पीछे भी यही तर्क थे। उन्होंने केवल जन्मजात दलितों के लिए ही संघर्ष नहीं किया, बल्कि समस्त शोषितों के लिए लड़ाई लड़ी। शिक्षा या संपत्ति के आधार पर भेदभाव किए बिना सभी वयस्क नागरिकों के लिए वोट के अधिकार को लेकर अंग्रेजी शासकों से भी संघर्ष किया और भारतीय संविधान निर्माण के जरिए, सबको यह अधिकार दिलाने का माध्यम भी बने। मेहनतकश जनता को शोषण में मुक्ति दिलाने के लिए 'हिन्दु कोड बिल' बनाने में आम्बेडकर की जद्दोजहद की अग्रणी भूमिका रही। आज उदारीकरण, भूमंडलीकरण व निजीकरण की नीतियों से समाज में असमानता और भेदभाव की खाई गहरी हुई है। लोकतांत्रिक पद्धतियों, प्रक्रियाओं को त्यागकर तानाशाही की प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। राष्ट्र की सम्पत्ति को बड़े पूँजीपतियों को भेंट किया जा रहा है। राज्य अपनी कल्याणकारी भूमिका से संबंध कम करता जा रहा है। धार्मिक पाखण्ड, अनैतिकता और अज्ञानता को बढ़ावा मिल रहा है। श्रमिकों, महिलाओं, वंचितों, पिछड़ों, आदिवासियों, अल्पसंख्यकों, दलितों पर उत्पीड़न बढ़ रहा है और उनके अधिकार छीने जा रहे है। अधिकांश राजनीतिक नेता व दल पूँजीपतियों व शोषकों के एजेंट की तरह काम कर रहे है। ऐसे समय में डॉ. भीमराव आम्बेडकर का संघर्षशील जीवन में उनकी वैचारिक चेतना असमानता को समाप्त करने में लगे संघर्षशील लोगों को नई स्फूर्ति, तर्क व दिशा देने का काम करेगी। विश्वप्रकाश

गुप्त और मोहिनी गुप्ता के शब्दों में ''आम्बेडकर अपने जीवन में जितने प्रभावशाली थे, उससे कही अधिक प्रभावशाली वे आज हैं। भारतीय राजनीति और समाज की पुनर्रचना में उनके विचारों की सशक्त भूमिका है। आज भारत का हर राजनीतिक दल उनके नाम की दुहाई देता है।''[3] डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने दलितों को संगठित करने के लिए समय-समय पर अनेक राजनीतिक दलों की स्थापना की—1. इंडेपेंडेंट लेबर पार्टी (1936), 2. आल इण्डिया शेडूल्ड कास्ट्स फेडरेशन (1942), 3. रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया (1957)। रिपब्लिकन पार्टी की योजना डॉ. आम्बेडकर के जीवन काल में बन गयी थी, लेकिन उसकी विधिवत् स्थापना उनकी मृत्यु के बाद 1957 में हुई थी।

''डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने 1920 में 'मूकनायक' मराठी पत्रिका द्वारा अछूतों में जागृति पैदा करने की कोशिश की। 1924 में उन्होंने दलितों के उत्थान के लिए 'बहिष्कृत हितकारिणी' सभा की स्थापना की। आम्बेडकर ने अपनी रचनाओं और व्याख्यानों द्वारा दलितों का संगठन किया। उन्होंने दलितों के हित में अनेक सत्याग्रह किए, जिनमें महाड़ सत्याग्रह और नासिक सत्याग्रह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आम्बेडकर ने अछूतों की राजनीतिक स्थिति सुधारने तथा उन्हें राजनीतिक अधिकार दिलाने के लिए भी प्रयत्न किए। उन्होंने 1928 में साइमन कमीशन की सेवा में एक ज्ञापन प्रस्तुत किया, जिसमें आग्रह किया कि अनुसूचित जातियों के लिए कुछ रक्षोपायो (सेफ गार्डस) की आवश्यकता है। उन्होंने भारत के भावी संविधान पर विचार करने के लिए लंदन में संयोजित गोलमेज सम्मेलनों में भाग लिया और मांग की कि देश के राजनीतिक भविष्य का निर्माण करते समय अछूतों की समस्या को भी सुलझाया जाए और उन्हें कुछ विशेष रियायतें दी जायें।''[4] डॉ. आम्बेडकर को राष्ट्र से प्रेम था, अपने दलित, पिछड़े लोग और स्त्री समाज से अगाध प्रेम था। उन्होंने विदेश से पढ़कर आने के बाद सरकारी नौकरी नहीं की। एक कान्फ्रेंस में उन्होंने कहा था, कि 'न्यायाधीश तो क्या यदि मुझे वायसराय भी बनाने का प्रलोभन दिया जाता तो भी मैं ठुकरा देता। मेरे समक्ष अपनी जनता का भविष्य था, मेरा अपना नहीं।' डॉ. भीमराव आम्बेडकर अपने कर्तव्य के तीन उद्देश्य बताते हैं, पहला देश, दूसरा अस्पृश्य समाज और तीसरा हिन्दु समाज। डॉ. भीमराव आम्बेडकर चाहते थे, कि सम्पूर्ण भारत में शान्ति व्यवस्था बनी रहे, अस्पृश्यों के साथ किसी प्रकार की असमानता न हो, समाज में सिर्फ मनुष्यता ही बनी रहे। समाज से अस्पृश्यता समाप्त हो जाए। कन्हैयालाल चंचरीक के अनुसार ''डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर ने दलितों को नए विचार प्रदान किए, उनमें आत्मविश्वास पैदा किया, स्वावलंबन की वृत्ति उत्पन्न की, शिक्षा का महत्त्व उनके मन पर अंकित किया। सवर्ण हिन्दुओं की कृपा, सहानुभूति अथवा अनुकंपा पर जीने की जरूरत नहीं है, यह उनके मन पर अंकित किया। मनुष्य के समान जीने का हमारा अधिकार है और संघर्ष किए बिना, लड़े बिना, कोई भी हमें यह मूलभूत अधिकार प्रदान नहीं करेगा, इसका भान कराया

गया।''[5] स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व के सन्दर्भ में बाबा साहब भीमराव आम्बेडकर का विचार है कि ''सभी मनुष्य एक ही मिट्टी के बने हुए है और उन्हें एक अधिकार भी है कि अपने साथ अच्छे व्यवहार की माँग करें।''[6] डॉ. आम्बेडकर सामाजिक विकास में स्त्रियों की रचनात्मक भूमिका समझते थे, उन्होंने स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए भरसक प्रयत्न किया। आम्बेडकर 'हिन्दू कोड बिल' के द्वारा स्त्रियों और पुरुषों को बराबर के अधिकार देना चाहते थे, आम्बेडकर अपनी तरफ से पूरी कोशिश करने पर भी हिन्दू कोड बिल उसके मूल रूप में पास कराने में सफल न हो सके। डॉ. आम्बेडकर ने उद्योगों में महिला और पुरुष के लिए समान वेतन तथा महिलाओं के लिए प्रसूति लाभ का संवैधानिक प्रावधान करवाया, कारखानों में काम के घंटे बारह से घटाकर आठ घण्टे करवाये थे। उन्होंने महिलाओं की गरिमा लौटाने और तलाक, सम्पत्ति, उत्तराधिकार, विवाह के समान अधिकार दिलाने के लिए भी संघर्ष किया। महिलाओं को समान मतदान का अधिकार दिलाने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

बाबा साहब भीमराव आम्बेडकर के सन्दर्भ में पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि ''...इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे संविधान की रचना में डॉ. आम्बेडकर ने सबसे अधिक सतर्कता बरती और कष्ट उठाए... उन्होंने हिन्दू विधि के सुधार में भी बेहद रुचि ली और इसके लिए भागीरथ श्रम किया... लेकिन मेरा विचार है कि उन्हें सबसे अधिक एक प्रतीक के रूप में याद किया जायेगा, हिन्दू समाज की दमनकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध विद्रोह के प्रतीक के रूप में।''[7] भारतीय जाति व्यवस्था के विश्लेषण और उन्मूलन की दिशा में आम्बेडकर की भूमिका ऐतिहासिक महत्त्व की है। आम्बेडकर ने विचार प्रस्तुत किया कि जातिप्रथा सामाजिक विकास के मार्ग में रुकावट प्रस्तुत करती है, इसलिए उसका उन्मूलन करना आवश्यक है, वे एक नयी समतामूलक समाज-व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, जिसका केन्द्रीयभाव समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के आदर्शों पर स्थापित हो सके। डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने अपने अनुयायियों को प्रेरणा दी कि वे अपने बच्चों को उचित शिक्षा दें। उन्होंने दलितों के लिए छात्रावास एवं विद्यालयों की स्थापना करवायी।

बाबा साहब भीमराव आम्बेडकर आधुनिक भारत के असाधारण विद्वान, जननायक, विधिवेत्ता, धार्मिक चिंतक, तर्कशास्त्री और महान वक्ता थे। डॉ. आम्बेडकर का जीवन काल 1891 से 1956 ई. तक रहा है, उन्होंने जीवन के कुल 65 वर्ष देखें, चूँकि उनका दलित परिवार में जन्म हुआ था, इसलिए उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए उन्हें पग-पग पर संघर्ष करना पड़ा। अपमान और लांछन सहना पड़ा, तब आम्बेडकर ने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि दलित समाज, वंचित समाज, हासिए के समाज और स्त्री समाज के लिए मैं अंतिम समय तक संघर्ष करता रहूँगा।

डॉ. भीमराव आम्बेडकर बुद्ध के द्वारा बताये गये मार्ग पर चल रहे थे, बुद्ध की तरह समानता के पक्षपाती थे। इसीलिए वे जीवन के अन्तिम चरण में बौद्ध धर्म अपनाते हैं। जिसका

अनुसरण आज सम्पूर्ण दलित समाज कर रहा है। धर्म परिवर्तन का प्रभाव आम्बेडकर के द्वारा ही सम्भव हुआ। डॉ. आम्बेडकर का यह मानना था कि हिन्दू धर्म में मेरा जन्म जरूर हुआ है, लेकिन मैं हिन्दू धर्म में मरूँगा नहीं। डॉ. भीमराव आम्बेडकर कुछ अलग तरह से सोचते थे– ''चूंकि मैं अछूत हूँ, इसलिए आपके समकक्ष नहीं बैठ सकता, किन्तु लेखनी के माध्यम से मैंने अपना स्थान आप लोगों के हृदय में बना लिया है। आपके हाथों में मेरे द्वारा रचित पुस्तक का होना, इस बात का प्रमाण है कि कम से कम विचारों के मामले में तो, आप मुझसे इत्तेफाक रखते ही हैं और आने वाले समय में व्यवहार में भी मेरे विचारों से इत्तफाक करेंगे, ऐसा मेरा सोचना है।''[8] डॉ. आम्बेडकर की लिखित पुस्तकों को महाराष्ट्र सरकार के शिक्षा विभाग ने डॉ. आम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय के रूप में छापा है।

डॉ. आम्बेडकर द्वारा भारतीय संविधान में दलितों को आरक्षण और संरक्षण देने के मूल में उनकी यह नीति थी कि अगले कुछ वर्षो में भारतीय समाज समता के निकट आ जाएगा। शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने के कारण समाज के सभी वर्गो में अधिक सामंजस्य स्थापित होगा। ''पिछले कुछ वर्षो से देश की आर्थिक समस्याएँ इतनी उलझ गयी है कि जिससे आर्थिक विषमता बढ़ती जा रही है। प्रतिवर्ष अठारह लाख बेरोजगार तैयार हो रहे हैं। युवक वर्ग सभी ओर से निराश और साथ ही बेचैन होता जा रहा है। इस युवक को यह कहा जा रहा है कि उसकी इस बेरोजगारी और असहाय स्थिति के लिए आरक्षण की नीति करणीभूत है। परिणामतः वर्ण और जाति-व्यवस्था तथा आर्थिक विषमता के विरोध में लड़ाई लड़ने के बजाय वह दलित विरोधी बनता जा रहा है। उसकी इस दलित विरोधी मानसिकता बनाये रखने का काम पत्रकारिता और धर्म के मुखौटे लगाकर राजनीति करने वाले लोग कर रहे है। ऐसी स्थिति में आम्बेडकर के स्वप्नों का भारत और दूर निकलता जा रहा है।''[9] ''यदि संविधान की बात करें तो वह आम्बेडकर जी के सपनों के और आगे चला गया है। परन्तु दूसरी ओर दलितों पर होने वाले अत्याचारों की संख्या भी बढ़ रही है। एक विचित्र विसंगति स्पष्ट दिख रही है कि संविधान में हम अधिक प्रगतिशील है, कानून बनाते समय हम समता, मैत्री और बन्धुत्वभाव के मूल्यों को महत्व दे रहे है। परन्तु प्रत्यक्ष आचरण में प्रशासन में स्थितियाँ ठीक उलटी है।''[10] डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे के अनुसार ''अपने पारंपरिक व्यवसायों को छोड़कर दलित युवक नये-नये व्यवसायों में प्रवेश कर रहे है। उद्योग-व्यवसाय, वस्तुओं का उत्पादन, मुद्रण तथा अन्य छोटे-बड़े व्यवसायों में वह उतर रहा है। सवर्णों से धीरे-धीरे इन व्यवसायों में पूरी जिद के साथ स्पर्धा कर रहा है। कृषि उत्पादन में भी वह फैलता जा रहा है। सरकारी नीतियों के कारण प्रशासन में थोड़ी संख्या में क्यों नहीं वह दिखलाई दे रहा है। इस प्रकार बाबा साहब के सपनों के अनुसार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में ताकत के साथ खड़ा है।''[11] बाबा साहब भीमराव आम्बेडकर का सबसे बड़ा स्वप्न था सवर्णों की मानसिकता में परिवर्तन। जब तक वे जीवित

रहे, तब तक यह प्रभाव नहीं दिखाई दिया। परन्तु पिछले कुछ वर्षो में सवर्णों में बदलाव आ रहा है।

अब छुआछूत की भावना बहुत हद तक कम हो गया है। सार्वजनिक स्थानों पर पूरी आत्मीयता के साथ दलितों को स्थान दिया जा रहा है। समाज के अधिकांश लोग अब उन्हें स्वीकार कर रहे हैं।

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे के अनुसार ''दलितों के भीतर अपनी अस्मिता के प्रति अहसास की एक चिंगारी डॉ. बाबा साहेब ने पैदा की है। यह चिंगारी धीरे-धीरे आग का रूप धारण कर रही है। यह चिंगारी दलितों के भीतर सुलग रही है। इसके प्रमाण आए दिन मिल रहे है। आज से 20 या 30 वर्ष पूर्व दलितों के अत्याचार के समाचार छपते नहीं थे। उन पर अत्याचार होते भी नहीं थे। इसलिए नहीं होते थे क्योंकि वे गुलामी का, पशु का जीवन जी रहे थे। वे अन्याय और अत्याचार को अन्याय-अत्याचार नहीं मानते थे। वे अपने को पशु से अधिक कुछ नहीं मानते थे, उनकी संवेदन क्षमता नष्ट की जा चुकी थी। बाबा साहेब के विचारों के कारण उन्हें उनकी संवेदनशीलता वापिस मिल गई है। अपनी अस्मिता का स्वाभिमान का मनुष्य होने का अहसास उन्हें अब हो चुका है।''[12]

आज वर्तमान समय में डॉ. भीमराव आम्बेडकर के विचार दलितों और स्त्रियों के मन में आंतरिक भाव से बैठ चुका है। उनके सामाजिक विचारों से देश में, समाज में, जनता में एकरूपता स्थापित हो रही है। हासिए पर रहे लोगों के साथ मनुष्यता जैसा व्यवहार किया जा रहा है। व्यक्ति में मानसिक परिवर्तन के साथ-साथ व्यावहारिक परिवर्तन भी दिखने लगे है। यही समतामूलक समाज की स्थापना होना ही बाबा साहेब का स्वप्न था। दलित और सवर्णो दोनों के द्वारा बाबा साहेब की पुस्तक पढ़ी जा रही है, उन पर अधिक मात्रा में शोधकार्य भी हो रहे है। लेकिन अभी बहुत गहन चिंतन और शोधकार्य की आवश्यकता है।

समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (म.प्र.)

सन्दर्भ -

1. कन्हैयालाल चंचरीक - भारत में दलित आन्दोलन : एक मूल्यांकन, सृष्टि बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली, 2006, पृ. VI भूमिका से।
2. डॉ. भीमराव आम्बेडकर - अस्पृश्यता, अनुवादक एन.एल. खण्डेलवाल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण 1992, पृ.17।
3. विश्वप्रकाश गुप्त और मोहिनी गुप्ता - भीमराव आम्बेडकर व्यक्ति और विचार, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2001, प्रस्तावना से।
4. वही, पृ. 135

5. कन्हैयालाल चंचरीक - आधुनिक भारत का दलित आन्दोलन, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. 343।
6. सुभाष चन्द्र संपा. - आम्बेडकर से दोस्ती समता और मुक्ति, साहित्य उपक्रम, शाहदरा नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ.120
7. विश्वप्रकाश गुप्त और मोहिनी गुप्ता - भीमराव आम्बेडकर : व्यक्ति और विचार, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2001, श्रद्धांजलि पृष्ठ से।
8. डॉ. पूरणमल - अस्पृश्यता एवं दलित चेतना, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, प्रथम संस्करण 1999, पृ.115
9. डॉ. सूयनारायण रणसुभे - डॉ. बाबासाहेब आम्बेडकर, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, अंसारी मार्ग दरियागंज, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति 2009, पृ.124
10. वही, 125
11. वही, 129
12. वही, 131

''राष्ट्र के एकीकरण के लिए सर्वमान्य भाषा से अधिक प्रभावशाली कोई तत्त्व नहीं। मेरे विचार में हिन्दी ही ऐसी भाषा है।'' **–लोकमान्य तिलक**

'चीख' : व्यापक जीवनानुभव की सृजनात्मक अभिव्यक्ति

–अमरेन्द्र त्रिपाठी

उर्मिला शिरीष हिन्दी कथा साहित्य का जाना-पहचाना नाम है। पिछले बीस वर्षों की सार्थक सक्रियता के फलस्वरूप हिन्दी कहानी की दुनिया में इन्होंने अपनी अलग पहचान बनायी है। इनकी कहानियों ने हिन्दी के स्त्री लेखन की दुनिया का विस्तार और विकास किया है। स्त्री होने की वजह से उर्मिला जी ने केवल स्त्री-समस्या पर ही कहानियाँ नहीं लिखी हैं बल्कि जीवन-जगत के अनेकानेक अन्य मसलों को भी अपनी चिंता के केंद्र में रखा है। स्त्री की आँखों से दुनिया को देखने की तमन्ना रखने वाले लोगों को उर्मिलाजी की रचनाएँ संतुष्ट करेंगी। युवा समीक्षक अभिषेक सक्सेना द्वारा संपादित कहानी-संग्रह 'चीख' उर्मिला शिरीष की प्रतिनिधि कहानियों का संग्रह है। 'चीख' संग्रह में कुल दस कहानियाँ संकलित हैं जिनमें से तीन स्त्रियों के जीवन पर केंद्रित हैं, दो प्रेम कहानियाँ हैं और शेष जीवन-जगत के अन्य सुखों-संकटों पर। ऐसा कर संपादक ने उर्मिला जी के कथा-साहित्य के वैविध्य को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहा है। इस संग्रह से यह पता चलता है कि उर्मिला जी का 'रेंज' बड़ा है। वे खुद को स्त्री-रचनाकार के चौखटे में कैद नहीं होने देना चाहतीं।

संग्रह की पहली कहानी 'चीख' बलात्कार पीड़िता एक 'अनाम' लड़की की कहानी है। भारत में बलात्कृत लड़कियों का नाम उजागर करने पर कानून रोक है, क्योंकि नाम जानने पर उनकी इज्जत खराब हो जाने का खतरा है और इससे उनकी 'जिन्दगी बरबाद हो जाएगी'। यह दरअसल बलात्कार के सामाजिक प्रभावों का आकलन करने वाली कहानी है। बलात्कार, होने के पहले से लेकर होने के बहुत बाद तक महज एक यौन-अत्याचार न होकर एक सामाजिक अपराध होता है। बलात्कार का सामाजिक प्रभाव इतना व्यापक और वीभत्स होता है कि उसके समक्ष बलात्कारी की यौन-पिपासा और यौन-हिंसा की वजह से बलात्कृत को होने वाली शारीरिक पीड़ा का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। बलात्कार किसी भी अन्य शारीरिक हिंसा की तरह महज एक शारीरिक हिंसा ही है, लेकिन इसका सामाजिक प्रभाव उसे एक ऐसे अपराध में बदल देता है जिसकी यातना स्त्री आजन्म भोगने के लिए अभिशप्त होती है। बलात्कार के स्त्री-मन पर पड़ने वाले इन्हीं सामाजिक प्रभावों का 'चीख' कहानी में कथात्मक रूपांतरण किया गया है। कहानी का आरंभ बलात्कार के बाद लड़की की मनोदशा के सजीव चित्रण से होता है। पहले-पहल तो उसे लगता है जैसे यह फिल्म का कोई दृश्य है। सिनेमा-समाचार-समाज से

रोज-रोज आ रही बलात्कार की घटनाओं का आम स्त्री-मन पर इतना गहरा असर होता है कि वह हर दिन इस अनुभव से कई बार गुजरने के लिए अभिशप्त होती है, और जब एक दिन सचमुच उसके साथ बलात्कार हो जाता है तो उसे सहज विश्वास ही नहीं होता। इसके बाद बलात्कार पीड़िता के परिवार का दृश्य आता है जिसमें पारिवारिक सदस्यों के मन में 'इज्जत खो देने' का आतंक बेटी के दर्द के ऊपर हावी है। इस हिंसा के प्रति सांत्वना देने वाले लोगों की मनोदशा क्या थी, *''अफ़सोस और चिंता के शब्द उनकी जबान पर थे। आँखों में दया का भाव उमड़ आया था। बाहर भयानक निस्तब्धता छा गयी थी। बड़े गेट पर ताला लगा दिया गया।''* घर का वातावरण तो और भी भयानक था, *''घर में मातम सा सन्नाटा छाया था। मगर मातम के समय तो लोग परस्पर बात भी कर लेते हैं। मिलकर विलाप या शोक मनाते हैं, इस मातम में तो कोई किसी के साथ बैठ भी नहीं पा रहा था बात करना तो दूर...।''* मतलब बलात्कार से बेहतर है मौत। इज्जत नहीं तो नारी जीवन की जरूरत क्या? और इज्जत की परिभाषा वह पुरुषवादी समाज तय करेगा जो 'इज्जत के लूटने' का सबसे बड़ा कारक है। 'चीख' कहानी बलात्कार के मूल कारण की ओर इशारा करती है, उसके प्रति स्त्रियों को जागरूक करती है, और फिर शारीरिक बलात्कार से ज्यादा भयानक 'सामाजिक बलात्कार' के खिलाफ उन्हें खड़ा होने के लिए प्रेरित करती है।

'चाँदी का वर्क' सरकारी अस्पताल में काम करने वाले एक ईमानदार कर्त्तव्यनिष्ठ डॉक्टर की कहानी है, जो अपनी पेशागत निष्ठा की वजह से अधिकारियों के कोपभाजन का शिकार होता है। यह कहानी किशोर नामक एक गरीब मरीज और स्वास्थ्य विभाग के प्रमुख सचिव वर्मा के बेटे के इलाज में सरकारी तंत्र द्वारा किये जाने वाले भेदभाव के माध्यम से समाज में विद्यमान 'आम' और 'खास' के यातनादायक विभेद को उजागर करती है। कहानी का प्लॉट बहुत ही सरल है और स्वास्थ्य विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार जैसी गंभीर और संश्लिष्ट समस्या को समग्रता में उजागर कर पाने में सफल नहीं हो पाता है। यह कहानी एक व्यक्ति की महानता की कहानी तो बन जाती है लेकिन सरकारी मशीनरी के शोषण का शिकार आम आदमी की व्यथा-कथा नहीं बन पाती, जो शायद इसका लक्ष्य था। कहानी का भाग्यवादी अंत इसे और भी कमजोर बना देता है।

'पत्ते झड़ रहे हैं' सीमा और उसकी दोस्त अंबिका के भाई जयंत की प्रेम कहानी है। कमिश्नर की लड़की सीमा और निम्न मध्यवर्गीय परिवार के जयंत का प्रेम संबंध प्रचलित वर्गीय धारणाओं का शिकार हो जाता है। हिंदी सिनेमा का यह बेहद लोकप्रिय विषय रहा है, लेकिन उर्मिला जी की इस कहानी का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें सीमा-जयंत के प्रेम का दुश्मन उनका परिवार नहीं बल्कि जयंत के मन में बैठी मध्यवर्गीय धारणाएँ हैं। जयंत जीवन के कठोर धरातल पर इतना तपा है कि उसकी कोमल भावनाएँ मर चुकी हैं। उसे उच्चवर्गीय सीमा का प्रेम महज भावनात्मक आवेग लगता है। उसे लगता है कि जीवन के यथार्थ से टकराने के बाद सीमा का

प्रेम खंडित हो जाएगा और इसी आशंका में वह उसके प्रेम को ठुकरा देता है। इस कहानी का विषय महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसके साथ उर्मिला जी का बर्ताव बेहतर नहीं है। यह कहानी सीमा की ओर झुकी नजर आ रही है। इसमें मध्यवर्ग की अवसरवादिता की जैसी आलोचना है वैसी उच्चवर्ग की अधिकार भावना की नहीं। शिल्प के स्तर पर भी इसमें कमियाँ हैं। कहानी का आरंभ अंबिका की जुबानी होता है, फ्लैशबैक के बाद यह सीमा के द्वारा कही जाने लगती है और बीच-बीच में लेखिका भी अपनी ओर से बहुत कुछ कहती जाती हैं। इस वजह से कथानक का प्रवाह तो बाधित होता ही है, बोधगम्यता में भी कमी आती है। कहानी में तथ्यात्मक भूलें भी हैं। पूरी कहानी में केवल एक ही वास्तविक जगह का उल्लेख है और उसके विषय में भी गलत सूचना दी गयी है। सीमा कहती है कि उसका प्रवेश जे.एन.यू. में बी.ए. (ऑनर्स) में हुआ था लेकिन उसने वहाँ अपना दाखिला नहीं कराया। जे.एन.यू. में ऐसा कोई कोर्स अबतक प्रारंभ नहीं हुआ है। वहाँ सिर्फ विदेशी भाषाओं में बी.ए.(ऑनर्स) की पढ़ाई होती है और उसमें अंग्रेजी नहीं है। वैसे भी हम भारतीयों के लिए अंग्रेजी कब से विदेशी भाषा होने लगी!

'वृक्ष जब घना और बूढ़ा होने लगता है तो वह पुनः जमीन की ओर ही लौटता है' या लौटने को मजबूर होता है का सामाजिक भाष्य प्रस्तुत करती है 'पुनरागमन' कहानी। उपभोक्तावाद की क्रूर चक्की में पिस रहे भारतीय परिवारों में बुजुर्गों की दुर्दशा को केंद्र में रखकर 'चीफ की दावत' और 'वापसी' जैसी शानदार कहानियाँ लिखी गयी हैं। 'पुनरागमन' उन्हीं कहानियों की अगली कड़ी है। वर्तमान की यातना से मुक्ति के क्रम में अपने बचपन की ओर लौटने की लालसा इस कहानी की खासियत है। बुजुर्गियत अतीतोन्मुखी होती है। बड़े बेटे के अफसरी ठाटबाट की निरंकुशता और छोटे बेटे की दरिद्र मानसिकता से तंग आकर निरर्थकता के बोध से भरे हुए श्रीराम महाराज जब अपनी जन्मभूमि पर पहुँचते हैं तो उनका 'पुनरागमन' ही नहीं होता बल्कि 'पुनर्जन्म' भी होता है। उन्हें अपनी उपादेयता का गहरा अहसास होता है। गाँव की अपनी जमीन को खुमाण जैसे अपराधी से वापस लेकर वे उस जमीन के साथ-साथ अपने होने के अहसास को भी नवजीवन देते हैं। 'पुनरागमन' संग्रह की सबसे शानदार कहानी है। निरर्थकता बोध से भरे एक बुजुर्ग के मनोभाव और द्वंद्व का बहुत ही सुंदर निर्वाह लेखिका ने भाषा और भाव दोनों स्तरों पर किया है। कहानी के अंत में श्रीराम अपने मित्र पटेल की नातिन कमल को गोद लेने की पेशकश करते हैं और उसका विवाह उसके प्रेमी और अपने विरोधी खुमाण के बेटे से कराने को उत्सुक दिखते हैं। यह अंत थोड़ा नाटकीय है लेकिन असहज नहीं लगता। वैसे उर्मिला शिरीष एक चरम आशावादी लेखिका हैं। इस संग्रह की अधिकांश कहानियों का अंत सुंदर और सुखद संकेतों के बीच होता हैं, जहाँ सबकुछ ठीक होता दिखता है। इसका कारण उनके स्त्री-मन की कोमलता भले ही हो लेकिन यह उनकी कहानियों के तनाव को कम कर उसे कमजोर बनाता है।

'मन न भए दस-बीस' गलदश्रु भावुकता से भरी एक प्रेम कहानी है। स्वप्न में देखे पुरुष से प्रेम कर बैठी नायिका प्रेमी आदित्य की मृत्यु तक अपने अशरीरी प्रेम का निर्वाह करती है। आदित्य शादीशुदा है लेकिन नायिका को इस बात की परवाह नहीं है। वह शादी करती है फिर भी जीवन-पर्यंत आदित्य से प्रेम करती है। प्रेम की अलौकिकता और अशरीरी हो जाने की अनेकानेक दास्तानें दुनिया में सुनने को मिलती है, लेकिन उनमें से अधिकांशतः काल्पनिक हैं। जीवन के कठोर यथार्थ के बीच में से किसी अलौकिक प्रेम का किस्सा सुनने को नहीं मिलता। इसलिए कहा जा सकता है कि यह कहानी एक अविश्वसनीय मनमोहक प्रेम कहानी है।

'पत्थर की लकीर' भारतीय समाज में बेटे और बेटी के बीच विद्यमान अमानवीय भेदभाव के पत्थर की लकीर को उजागर करने वाली कहानी है। यह बुआ और बेटी के आत्मिक लगाव की कहानी है, जिनके लगाव की वजह उनके साथ उनके अपने ही परिवार द्वारा किए जाने वाले बेगानेपन का बर्ताव है। 'वसुधैव कुटुंबकम' का आदर्श दिन-रात जपने वाले भारत में जिस निर्लज्जता के साथ 'बेटी किसी और घर की है' के कटु यथार्थ का दर्शन होता है, वह यातनादायक है। भारत में बेटियों की दुर्दशा की मूल वजह संपत्ति में उनके अधिकार का न होना है। पिता की संपत्ति में उनका स्वाभाविक हक उन्हें मिलता नहीं, और पति उन्हें क्यों दें जब पिता ने ही बेदखल कर दिया है। पिता और पति के बीच झूलती भारतीय नारी आजन्म असुरक्षा और अपमान की यातना सहने को मजबूर होती है। यह कहानी पिता की संपत्ति में स्त्री के स्वाभाविक हक के जायज सवाल को उठाती है। यह उस कुटिल भारतीय मन को भी प्रश्नांकित करती है जो तब तक बुआ-बेटी की इज्जत करती है जबतक वह उनसे अपना हक नहीं माँगती। जैसे ही किसी स्त्री ने संपत्ति में अपने हक की माँग की कि परिवार में उसकी चर्चा तक पर प्रतिबंध लग जाता है। बुआ के द्वारा संपत्ति में हक माँगने का ताना भाई अपनी बहन शैला को देता है। वह इस बात से आशंकित है कि बहन भी उसके साथ यही करेगी। वह न तो अपनी बहन को उसका हक देना चाहता है और न इसको लेकर उसके मन में कोई नैतिक द्वंद्व है। पर एक औरत और बहन होने के कारण बुआ शैला के दर्द को समझती हैं, उस दर्द को जिसे मर्दवादी मानस का शिकार माँ तक नहीं समझ पाती। इसलिए शैला के नाम लिखे पत्र में बुआ अपनी उस सारी संपत्ति को शैला के नाम कर देती है, जिसके लिए उसने अपने भाई-भाभी के साथ कानूनी लड़ाई लड़ी थी। इस कहानी की सबसे बड़ी खासियत माँ का चरित्र है, जो अक्सर अपनी बेटी को इस आशंका के साथ देखती है कि वह कहीं बुआ की तरह संपत्ति में हक न माँग ले। यह चरित्र उन भारतीय माताओं पर एक सवाल है जो अपनी बेटियों के हक के खिलाफ खड़ी हैं। यह कहानी भारतीय समाज के एक बेहद जरूरी सवाल को उठाती है, और यही इसकी सबसे बड़ी खासियत है।

'मोर्चा' राजनीतिक मोर्चेबंदी की कहानी है। एक दलित महिला रमली को मोर्चा बनाकर एक उभरती हुई नेत्री सुलभा अपना राजनीतिक कैरियर सँवारती है। वर्तमान भारतीय

राजनीति इस कदर पतित हो गई है कि सत्ता का सुख पाने के लिए राजनेता किसी भी हद तक जा सकते हैं, एक असहाय दलित स्त्री को आत्मदाह करने के लिए मजबूर करने तक। यह कहानी सत्ता के चरित्र के साथ-साथ वर्ग के चरित्र को भी उजागर करता है। रमली के पति को उसके गाँव के दबंग थोड़ी-सी जमीन के लिए मार डालते हैं। रमली को उन दबंगों का आचरण स्वाभाविक लगता है, क्योंकि वह ऐसा सदियों से देख-सह रही है। लेकिन जब वह इस अन्याय के खिलाफ अपनी ही जाति और अपने ही गाँव के एक अधिकारी के पास पहुँचती है तो उसके बेगाने व्यवहार के बाद वह सोचती है कि, *''इतना दर्द तो तब नहीं हुआ था, जब लगातार उसकी देह पर डंडे पड़ रहे थे, जितना दर्द अब हो रहा था। उन डंडों की मार तो सदियों से पड़ती आ रही थी, लेकिन यह नया-नया दर्द कितना मारक था... जैसे सरेआम किसी गैर ने नहीं, अपनों ने ही नंगा कर दिया हो। कितना विश्वास लेकर आई थी...।''* दरअसल यह 'नया-नया दर्द' वर्ग-चरित्र का दिया हुआ दर्द है, जो जाति की सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है। जाति को ही एकमात्र सच्चाई मानने वाले भारतीय समाज का भविष्य में इस वर्ग-चरित्र से भयानक सामना अवश्य होगा, इसमें संदेह नहीं है।

'असमाप्त' सांप्रदायिकता की कभी समाप्त न होने वाली दास्तान है। सांप्रदायिकता एक ऐसी समस्या है जो शुरु तो कहीं से हो सकती है लेकिन समाप्त भयानक नरसंहार में जाकर होती है। यह समस्या हमीद लंगड़ा के व्यक्तिगत जीवन में मिले दर्द से भी जन्म ले सकती है और हिन्दू-मुसलमान-ईसाई के विश्व-बंधुत्व की मोहक भावना के भीतर से भी। हमीद लंगड़ा ने लावारिस प्रिंस को अपने बेटे की तरह पाला, यह जानते हुए भी कि वह एक हिंदू है, लेकिन प्रिंस उसके उपकारों की परवाह न कर उसकी युवा पत्नी रिजवाना के साथ संबंध बना बैठा। यह संबंध दो युवा दिलों का मिलन था लेकिन इस तर्क को न समझ हमीद ने इसे हिंदू-मुसलमान के आइने में देखा और जेहादी बन गया। हाल के दिनों में भारत के कई हिस्सों में युवा दिलों के प्रेम के भीतर से भयंकर दंगों को पनपते हुए हमने देखा है।

'कुर्की' शब्द सुनते ही कर्ज में दबे किसी किसान का चेहरा हमारी आँखों में तैर जाता है। बाजार का दबाव किसानों को कर्ज के मुहाने पर ला पटकता है और इसका अंत आत्महत्या में होता है या मजदूर बनने में। 'गोदान' के होरी के मजदूर बनने की त्रासदी अब एक महामारी का रूप धारण कर चुकी है। कर्ज एक संगठित षड़यंत्र में बदल चुका है। 'कुर्की' कहानी इसी षड़यंत्र का पर्दाफ़ाश करती है। खेत में खड़ी फसल जब असमय बारिश की चपेट में आ जाती है तो नाना (किसान) की आँखों के आगे कर्ज का अँधेरा छा जाता है। *''बेरहम हवाएँ, आवारा पानी और चपल-चंचला बिजली, तीनों थमने का नाम नहीं ले रहे थे, नाना को लगा उनका गला किसी ने दबा दिया है और वे सांस नहीं ले पा रहे हैं। अब! अब! क्या होगा? सहकारी समिति से उठाया गया कर्ज वैसे भी बढ़कर तीस से पचास हजार हो गया था, बिजली का बिल, तेरह हजार, साहूकार का कर्ज पंद्रह हजार रुपये, जो दस प्रतिशत ब्याज से अब तक कितना बढ़ गया*

होगा और भरत के ऊपर ट्रैक्टर-ट्राली का कर्ज चढ़ा था, बैंक वाले कब से धमकी दे रहे थे वसूली करने की, पर कैसे गिड़गिड़ाकर, पकी फसल दिखाकर, एक महीने की मोहलत ली थी। इसी फसल पर सारी उम्मीदें टिकी थीं।'' बेरहम मौसम की मार खा रहा यह किसान कृषि-प्रधान भारत के उस जनतंत्र का बहुसंख्यक जन है जिसका दावा है कि वह भारत के अंतिम जन का हित चाहने के लिए निर्मित हुआ है। यह किसान अकेला ऐसी हालत में नहीं है। *'लगभग सभी गाँव वाले कर्जदार थे। कुछ पुराने कर्जदार थे। कुछ पीढ़ियों के कर्जदार थे, कुछ नए कर्जदार थे, पर थे सभी कर्जदार।'* पर ये कर्जदार थे, काहिल नहीं थे। लेकिन पूँजीवादी अर्थशास्त्री किसानों की कर्ज माफी को उनकी काहिली के साथ जोड़ कर देखते हैं। उन्हें लगता है कि यह पैसा उन्हें मुफ्त में दिया जा रहा है। जैसे पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी तो महान परिश्रम से अर्जित की है, और उनसे भी अधिक परिश्रम से नेतागण और परजीवी बौद्धिक समाज ने सारी सुख-सुविधाएँ अर्जित की हैं! एक किसान के लिए किसानी समस्त सम्मान का केंद्र है, नाना के लिए भी है। लेकिन जब उनका ही अपना भरत धोखे से उनकी सारी जमीन हड़प लेता है तो नाना के पास जीने की कोई वजह नहीं रह जाती। वह बाहरी दुनिया से तो लड़ सकते थे लेकिन अपनों से कैसे लड़ें!

संग्रह की अंतिम कहानी 'सिगरेट' परिवार के बोझ तले पिस रही प्रिया की कहानी है। कहानी की विशेषता यह है कि प्रिया की जिम्मेवारी घरेलू टाइप की नहीं है। वह घर की चारदिवारी के भीतर घरेलू कामों की चक्की में नहीं पिस रही है। प्रिया एक कामकाजी स्त्री है। सामाजिक मानदंडों पर कहें तो एक आजाद औरत है। वह अच्छा खासा कमाती है और लगभग बेरोजगार और बीमार पति के साथ-साथ उसके भाई-बहनों को भी पालती है। उसका पति घर में बड़ा होने के दायित्व के निर्वाह में इतना मशगूल है कि पत्नी और अपने स्वास्थ्य के प्रति बेपरवाह है। प्रिया की पीड़ा यह है कि सबकुछ करने बाद भी उसका पति उसकी जरा भी परवाह नहीं करता। यह कहानी एक कामकाजी स्त्री के परिवार और परिवार के बाहर की जिम्मेवारियों में अकेले पिसने की कहानी है। वह पति से जिस भावनात्मक लगाव की कामना करती है वह भी उसे नहीं मिलता, आर्थिक सहयोग की तो बात ही नहीं है। एक पत्नी की आदिम ख्वाहिश होती है कि उसका पति कदम-कदम पर उसका साथ दे। प्रिया का पति न तो शारीरिक रूप से उसके साथ है और न ही मानसिक रूप से।

उर्मिला शिरीष की कहानियों में कला कम है जीवन अधिक है। इसमें कहन अधिक है कथन कम है। यह भाव प्रधान हैं, विचार प्रधान नहीं। इन कहानियों में संप्रेषणीयता बहुत अधिक है। एक आम पाठक भी इन्हें पढ़कर कहानी का आनन्द ले सकता है। आजकल जब कहानी में शिल्पगत प्रयोगों की बयार बह रही तब प्रेमचंदयुगीन शैली में सीधी और सपाट कहानी लिखना जोखिम भरा काम है। जब जीवन सीधा-सरल नहीं है तब कहानी को भी सीधा-सरल कहने से इक्कीसवीं सदी का जटिल समय समग्रता में प्रस्तुत नहीं हो पाता। संग्रह

की अधिकांश कहानियों का कथानक सहज-सरल है। किसी भी प्रकार का शिल्पगत प्रयोग नहीं मिलता। फ्लैश-बैक शैली का बहुत अधिक प्रयोग मिलता है। कहानियों में समाधान की बहुत ज्यादा ललक दिखायी पड़ती है जो अधिकांशतः कृत्रिम लगता है। आजकल की कहानियों के कथा-तत्व में तनाव की बड़ी भूमिका है। इसका सृजन उर्मिलाजी नहीं कर पातीं। यह तनाव किसी परिस्थिति विशेष में तो मिलता है लेकिन उसे पूरी कहानी में साध पाने में उर्मिलाजी सफल नहीं हो पातीं। संग्रह की दूसरी कहानी 'चाँदी का वर्क' में पेशागत समझौता और ईमान के बीच का तनाव आरंभ में तो दिखता है लेकिन प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत के प्रयोग से अंत तक आते-आते वह रिलीज हो जाता है। पाठक इस बेहद जरूरी द्वंद्व को अपने मन में गाँठ बाँधकर नहीं ले जा पाता, जो उसे ले जाना चाहिए था। प्राकृतिक न्याय, कर्म-फल का सिद्धांत या हृदय परिवर्तन जैसे नुस्खे प्रेमचंद के जमाने में ठीक थे जब मनुष्य और उसका जीवन सरल था। आज के जटिल समय में न समस्यायें सरल हैं और न ही उनका समाधान। हम आज एक बहुत ही उलझे वक्त में जी रहे हैं।

प्रस्तुत संग्रह की खासियत है इसकी संपादकीय दृष्टि। संपादक अभिषेक सक्सेना किसी प्रचलित विमर्श के बहकावे में नहीं आते। कहानियों के चयन में उनकी दृष्टि साफ झलकती है। संपादक की नजर समग्र मनुष्यता पर है, उसके किसी एक पक्ष पर नहीं। प्रस्तुत संग्रह में स्त्री की चीख है, तो दलित की भी, बुजुर्ग है तो बच्चा भी, किसान-समस्या है तो सांप्रदायिकता की आग भी, परिवार का संकट है तो प्रेम की अलौकिक उपस्थिति भी। उच्च वर्ग-मध्य वर्ग-निम्न वर्ग अपने वर्गगत चरित्र के साथ इस संग्रह में उपस्थित है तो जातिगत भेदभाव का शिकार दलित भी। इस संग्रह के शीर्षक के चयन में भी संपादक के विवेक की झलक मिलती है। संग्रह का शीर्षक 'चीख' भले ही उर्मिला जी के एक कहानी के शीर्षक से लिया गया हो, लेकिन इसमें हमारे समय की कटु सच्चाई ध्वनित होती है। 'चीख' हमारे समय और समाज का सच है, मौन-मुखर हम सब का सच।

एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार

समीक्ष्य पुस्तक—चीख
संपादक—अभिषेक सक्सेना 'ऋषि'
प्रकाशक—अनन्य प्रकाशन, नई दिल्ली

बुन्देले रणबाँकुरों के स्वातंत्र्य समर की गौरवशाली दास्तान

–पंकज सिंह

चलत तमंचा तंग, किर्च कराल जहाँ,
सूरज गुमानी गिरै गाज के समान
तहाँ एकै बिन मथ्थै, एकै ताके समरथ्थै,
एकै डोलै बिन हथ्थै, रन माचो घमसान।
जहाँ एकै एक मारैं, एकै भुव में चिकारैं,
एकै सुरपुर सिधारैं, सूर छोड़ छोड़ प्रान।
तहाँ बाई में सबाई, अँगरेजन सौं भँजाई,
तहाँ रानी मरदानी, झुक जारी किरवान।।

इतिहास मानव प्रेम एवं संघर्ष की कहानी ही है। जिस मानव के जीवन में संघर्ष नहीं है वह मानव ही क्या? देश-प्रेम सभ्यता की प्रथम सीढ़ी है, जो अंत तक बनी रहती है। जय-पराजय, जीवन-मरण की परवाह किये बिना देश-संस्कृति की रक्षा करने वाला व्यक्ति कुछ उपलब्धि हासिल कर लेता है तब उसी के आदर्श इतिहास के प्रेरणास्रोत बन जाते हैं। निष्ठा, प्रेरणा, वीरता, संघर्षशील व्यक्ति के कवच होते हैं, उनके प्रेरणास्रोत एवं पथप्रदर्शक राज्य-समाज के लिए कल्याणकारी होते हैं। ऐसे ही वीर योद्धाओं की दास्तान डॉ. बी. के. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक ''बुन्देलखण्ड का इतिहास (1531 से 1857ई. तक)'' में अत्यंत रोचक एवं शोधपरक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

भारत के हृदयस्थल में स्थित बुन्देलखण्ड एक गौरवशाली संस्कृति का वाहक रहा है। सांस्कृतिक विरासत, पुरातत्व, प्राकृतिक वैभव, साहित्यिक परम्पराओं आदि की दृष्टि से बुन्देलखण्ड भारत का समृद्धतम भू-भाग है। देश के मध्य भाग में स्थित होने के कारण यहाँ विदेशी आक्रमणों का प्रभाव विलम्ब से एवं अल्पकाल के लिये हुआ। केन्द्रीय शासन की दृष्टि भी इस भू-भाग पर कम ही पड़ी। ककरीली एवं पठारी भूमि होने के कारण बुन्देलखण्ड के लोग प्रारंभ से ही श्रमशील, जुझारू एवं संघर्षशील रहे। उनके रीति-रिवाज, संकल्प, व्यवसाय,

आजीविका के साधन धार्मिक आचार-विचार एवं साहित्यिक योगदान में यहाँ के प्राकृतिक परिवेश के साथ-साथ सांस्कृतिक वातावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। बुंदेले रणबाँकुरों चम्पतराय, छत्रसाल, पारीछत, मधुकरशाह, हिरदेशाह, बखतवली, मर्दन सिंह एवं झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई की गौरवशाली दास्तान हम अब तक केवल लोकगीतों, कटक काव्यों, रासों इत्यादि में ही सुनते आये हैं। डॉ. बी. के. श्रीवास्तव ने इनमें अन्तर्निहित रणबाँकुरों की दास्तान को गद्यात्मक ढंग से प्रथम बार इस पुस्तक में देने का श्लाघ्य प्रयास किया है।

समीक्ष्य पुस्तक 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' (1531 से 1857ई. तक) को कुल 26 अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने प्रथम दो अध्यायों में बुन्देलखण्ड का नामकरण एवं भौगोलिक सीमाओं पर प्रकाश डालने के उपरांत बुन्देलों के उत्कर्ष की संक्षिप्त मगर तथ्यपरक जानकारी दी है। अध्याय तीन एवं चार में बुन्देलखण्ड के भीष्म पितामह चम्पत राय ने किस प्रकार मुगल उत्तराधिकार युद्ध (1657-58ई.) में औरंगजेब की विजय में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई, इसकी विवेचना की गई है। औरंगजेब इस बहादुर व्यक्ति को अपने साथ रखना चाहता था, मगर चम्पत राय की आस्था ओरछा की राजगद्दी के प्रति थी। जब चम्पत राय ने औरंगजेब की अधीनता में रहना स्वीकार नहीं किया तो औरंगजेब ने उसको पकड़ने सेना भेज दी। चम्पत राय ने औरंगजेब की दासता स्वीकारने की अपेक्षा मौत को गले लगाना बेहतर समझा। पुस्तक में सविस्तार बताया गया है कि किस प्रकार चम्पतराय एवं उनकी पत्नी लालकुंवर ने एक-दूसरे के पेट में कटार भौंककर आत्माहुति दे दी। लेखक ने पांचवे अध्याय में चम्पतराय के पुत्र छत्रसाल के प्रारंभिक जीवन एवं शिवाजी के प्रभाव का वर्णन किया है। छत्रसाल, चम्पतराय की मृत्यु के समय मात्र 12 वर्ष का था। उसने अपने माता-पिता की मृत्यु का प्रतिशोध औरंगजेब से लेने का फैसला किया। वह दक्षिण भारत में शिवाजी से जाकर मिले। शिवाजी ने उन्हें किस प्रकार बुन्देलखण्ड में औरंगजेब के विरुद्ध स्वाधीनता संग्राम चलाने हेतु प्रेरित किया, इसका बहुत ही रोचक वर्णन पुस्तक में किया गया है। लेखक यहाँ विस्तार से बताता है कि शिवाजी ने छत्रसाल के आत्म-विश्वास को बढ़ाने के लिये अपनी भवानी तलवार उन्हें भेंट की एवं छत्रसाल ने शिवाजी को अपना राजनीतिक गुरु मान लिया। लेखक ने छठवें अध्याय में छत्रसाल द्वारा बुन्देला साम्राज्य की स्थापना का वर्णन किया गया है। छत्रसाल शिवाजी का आशीर्वाद लेकर बुन्देलखण्ड में आये, यहाँ आने पर उनकी भेंट महामति प्राणनाथ से हुई। स्वामी प्राणनाथ को छत्रसाल ने अपना आध्यात्मिक गुरु बना लिया। प्राणनाथ ने ही छत्रसाल की धन की कमी दूर करने उसे पन्ना की हीरे की खदानों का पता बताया। इस तरह छत्रसाल ने पन्ना को अपनी राजधानी बना कर शिवाजी एवं स्वामी प्राणनाथ के आशीर्वाद से बुन्देला साम्राज्य की स्थापना की। स्वामी प्राणनाथ ने छत्रसाल को साम्राज्य विस्तार का आशीर्वाद इन शब्दों में दिया—

'छत्ता तेरे राज में, धक-धक धरती होय,

जित-जित घोड़ा मुख करे, उत-उत फत्ते होय।'

लेखक बताता है कि यह आशीर्वाद छत्रसाल के लिये वरदान साबित हुए, उसने एक बृहद बुन्देला साम्राज्य की नींव रखी और औरंगजेब के सेना नायकों को कई बार पराजित किया। यह दोहा बताता है कि पराक्रमी छत्रसाल से लड़ने के बारे में अब कोई सोचता तक नहीं था–

इत जमुना उत नर्मदा, इत चंबल उत टौंस।
छत्रसाल से लड़न की, रही न काहूँ हौंस।।

लेखक ने सातवें एवं आठवें अध्याय में छत्रसाल का मोहम्मद खाँ बंगश से संघर्ष तथा पेशवा बाजीराव प्रथम से संबंधो का विस्तार से वर्णन किया है। छत्रसाल जब बुजुर्ग हो गये तब इलाहाबाद के मुगल सूबेदार मोहम्मद खाँ बंगश ने एक युद्ध में उन्हें परास्त कर जैतपुर के किले में घेर लिया। लेखक सविस्तार बताता है कि छत्रसाल ने किस तरह कूटनीति का सहारा लेकर अपनी सहायता हेतु पेशवा बाजीराव प्रथम को इन शब्दों के साथ आमंत्रित किया–

'जो बीती गज ग्राह पर, सो गति भई है आज।
बाजी जान बुन्देल की, राखो बाजी लाज।।'

पेशवा छत्रसाल की मदद को आये और मोहम्मद खॉ बंगश को परास्त किया। उनकी मदद से खुश होकर छत्रसाल ने अपने साम्राज्य का एक तिहाई भाग जिसमें - सागर, जालौन, कालपी आदि शामिल थे, पेशवा को सौंप दिया। साथ में मस्तानी नामक रूपवती नर्तकी भी उन्हें भेंट स्वरूप दी। लेखक इस घटनाक्रम पर सांगोपांग प्रकाश डालते हुए बताता है कि एक बार पेशवा दो दिन से भूखे थे, उनके रसोइये गोविन्द बल्लाल खैर ने एक चिता से लकड़ी लेकर उनके भोजन की व्यवस्था की। पेशवा उसकी बहादुरी से अत्यन्त प्रसन्न हुए और छत्रसाल द्वारा प्राप्त सागर क्षेत्र का प्रबंधक उसे बना दिया। सागर को केन्द्र बना कर गोविन्द बल्लाल खैर ने आस-पास के सौ गढ़ों को जीत लिया। लेखक की मानना है कि इसी सौगढ़ से सौगर (Saugor) और फिर सागर (Sagar) नाम अस्तित्व में आया।

लेखक ने नवें अध्याय में सागर-नर्मदा क्षेत्र में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना की जानकारी दी गई है। 1817-18 के तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध में मराठे परास्त हुए। इस तरह मराठों के नियंत्रण वाला सागर क्षेत्र अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गया।

लेखक ने दसवें से सोलहवें अध्याय में बुन्देला विद्रोह के कारण, आरंभ, विस्तार तथा दमन का विस्तार से वर्णन किया है। साथ ही साथ लेखक ने बुन्देला विद्रोह के प्रमुख सूत्रधार राजा पारीछात, बुढ़वामंगल मेला, तथा बुन्देला विद्रोह के प्रमुख नायक मधुकरशाह की भूमिका का अत्यंत रोचक तथा कई अनछुए पहलुओं का वर्णन किया है। अंग्रेजों द्वारा अपनायी गई भू-बन्दोवस्त की नीति एवं अधिक कर वसूली के कारण बुन्देलखण्ड में अंग्रेज विरोधी लहर प्रसारित हुई। बुन्देलखण्ड में जो स्वाधीनता संग्राम चला, उसके पीछे लोक काव्य की अहम

भूमिका थी। लोक कवियों ने बुन्देलखण्ड में राष्ट्रवादी चेतना जगाने में अहम भूमिका निभाई। इन लोक कवियों द्वारा लोक में प्रसारित काव्य पाठ का हमला इतना तीव्र था कि अंग्रेजों की छावनियाँ भी घबरा गईं। इस संबंध में 'पारीछत कौ कटक' कहता है–

काहू ने सैर भाखे काऊ ने लाऊनी।
अबके हल्ला में फुँकी जात छावनी।।

'पारीछत कौ कटक' काव्य एवं अभिलेखागारीय स्त्रोतों का हवाला देते हुए लेखक बताता है कि अखिल भारतीय स्तर पर स्वाधीनता का प्रथम प्रस्ताव बुन्देलखण्ड की चरखारी रियासत में 1836 में बुढ़वा मंगल जैसे सांस्कृतिक आयोजन के समय पारित किया गया था, इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है–

'बुढ़वा मंगल कीन श्री रतनेश नरेश ने,
जुरे सकल प्रवीन कौल भगौती शीष पै।
बुढ़वा मंगल में जुड़े राजन सहित नबाब,
रह न जावे देश में कलकत्ते कौ साब।।

जैतपुर राजा पारिछत, नाराहट के मधुकरशाह एवं हीरापुर के हिरदेशाह ने 1842 के बुन्देला विद्रोह का नेतृत्व किया। यह बुन्देला विद्रोही अंग्रेजों के खजानों एवं उनके क्षेत्रों में तो लूट-पाट कर ही रहे थे, मगर साथ-साथ शाहगढ़ एवं बानपुर रियासतों में भी लूट-पाट कर रहे थे। शाहगढ़ रियासत के राजा बखतवली ने हीरापुर के हिरदेशाह एवं बानपुर रियासत के राजा मर्दन सिंह ने नाराहट के मधुकरशाह को पकड़वा कर बुन्देला विद्रोह के दमन में अंग्रेजों की मदद की। इस मदद के कारण लेखक ने यह बताये हैं कि–

1. सिंधिया ने शाहगढ़ रियासत के राजा अर्जुन सिंह से गढ़ाकोटा इलाका प्राप्त कर लिया था। बानपुर रियासत के राजा मोद प्रहलाद से सिंधिया ने चन्देरी इलाका प्राप्त कर लिया था। चूंकि सिंधिया अंग्रेजों का मित्र था अतः शाहगढ़ राजा बखतवली एवं बानपुर राजा मर्दन सिंह ने बुन्देला विद्रोह के दमन में अंग्रेजों का साथ इस शर्त पर दिया था कि वे सिंधिया द्वारा उनके पूर्वजों से प्राप्त गढ़कोटा एवं चन्देरी क्षेत्र उन्हें वापस करायेंगे।
2. चूंकि यह बुन्देला विद्रोही शाहगढ़ एवं बानपुर रियासतों में भी लूट-पाट कर रहे थे अतः रियासत की जनता की रक्षार्थ इन्हें पकड़वाना आवश्यक था।

दोनों राजाओं की मदद से अंग्रेजों ने 1842 के बुन्देला विद्रोह का दमन तो कर दिया, मगर इन राजाओं से किये गये वादे को नहीं निभाया। सिंधिया से गढ़ाकोटा एवं चन्देरी अंग्रेजों ने प्राप्त कर लिये, मगर इन राजाओं को वापस नहीं किये। इससे यह दोनों राजा बखतवली एवं मर्दन सिंह अँग्रेजों से नाराज हो गये।

लेखक ने सत्रहवें से चौबीसवें अध्याय में बुन्देलखण्ड क्षेत्र में 1857 की क्रांति के कारण, आरंभ, विस्तार, दमन तथा प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया है। लेखक ने इस पुस्तक में रानी

लक्ष्मीबाई के हाथ से मर्दन सिंह को लिखा एक पत्र पृष्ठ 200 पर प्रस्तुत किया है। लेखक के अनुसार यह पत्र यह तीन बातें स्पष्ट करता है–

1. 21 नवम्बर 1853 को गंगाधर राव की मृत्यु के समय शोक संवेदना व्यक्त करने बखतवली, मर्दनसिंह, नाना साहब एवं तात्याटोपे आये थे, उस समय 1857 की क्रांति के लिये योजना बनी थी।
2. रानी लक्ष्मीबाई इस पत्र में भारत को अपना देश कहती हैं अतः वह मात्र झाँसी के लिये नहीं लड़ रही थी।
3. इस पत्र में सर्वप्रथम स्वराज शब्द का उल्लेख रानी लक्ष्मीबाई ने किया था।

1857 की क्रांति की तीव्रता देखते हुए पूरे 370 अंग्रेज सागर के किले में 27 जून 1857 को शरण ले लेते हैं। लेखक बताता है कि सागर का किला अत्यन्त मजबूत एवं सामरिक महत्व का था। यह कभी भी आक्रमणकारी द्वारा जीता नहीं जा सका था इसीलिए अंग्रेजों ने इसमें शरण ली थी।

इस किले को चारों ओर से शाहगढ़ राजा बखतवली, उसके सेनापति बोधन दौआ, बानपुर राजा मर्दनसिंह, गढ़ी अम्बापानी के नवाब बन्धु फाजिल मोहम्मद खाँ एवं आदिल मोहम्मद खाँ ने घेर रखा था। इन अंग्रेजों को किले से मुक्त कराने एवं बुन्देलखण्ड में 1857 की क्राँति का दमन करने इंग्लैण्ड के सबसे योग्य सेना नायक ब्रिगेडियर जनरल ह्यूरोज को भारत भेजा गया। उसने मर्दनसिंह, बखतवली आदि को परास्त कर 3 फरवरी 1858 को पूरे 222 दिन पश्चात् सागर किले से अंग्रेजों को मुक्त कराया। इसके बाद झाँसी पहुंचकर 3 अप्रैल 1858 को झाँसी पर अधिकार कर लिया। ग्वालियर के युद्ध में 18 जून 1858 को रानी लक्ष्मीबाई वीरगति को प्राप्त हुईं। इससे क्रांतिकारियों के हौसले पस्त हो गये। मर्दनसिंह एवं बखतवली ने आत्म समर्पण कर दिया। अंग्रेजों ने तात्याटोपे को षड्यंत्र द्वारा पकड़वाकर 18 अप्रैल 1859 को शिवपुरी में फांसी दे दी। इसके साथ ही लेखक ने पच्चीसवें एवं छब्बीसवें अध्याय में उक्त समस्त घटनाक्रम की तथ्य-परक व्याख्या करते हुए यह भी बतलाया कि 1857 की क्राँति में हिन्दु-मुस्लिमों ने अंग्रेजों के खिलाफ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ते हुए साम्प्रदायिक एकता का परिचय दिया। लेखक बुन्देलखण्ड में 1857 की क्राँति की अत्यधिक तीव्रता का कारण लोकगीतों की भूमिका को बताते हैं। उनके अनुसार बुन्देले हरबोलों ने गली-गली, द्वार-द्वार, नगर-नगर जा-जाकर लोकगीत गाये, लोगों के अन्दर राष्ट्रीय चेतना विकसित की।

लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में प्राथमिक एवं द्वितीयक स्त्रोतों का समुचित उपयोग किया है। प्राथमिक स्त्रोतों के तहत समकालीन पत्र, पाण्डुलिपियों, दस्तावेजों, अभिलेखों एवं ग्रन्थों का उपयोग किया है। द्वितीयक स्रोतों के तहत आधुनिक काल में विद्वानों द्वारा बुन्देलखण्ड के इतिहास, संस्कृति, काव्य परम्परा, साहित्य परम्परा, इत्यादि पर सृजित ग्रन्थों का उपयोग किया

गया है। प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों से तथ्यों का संकलन कर आवश्यकतानुसार तथ्यों का चयन एवं क्रमबद्ध विन्यास प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ के अंत में एक वृहद् संदर्भ ग्रंथ सूची दी है, जो निःसंदेह इतिहास के विद्यार्थियों तथा शोधार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है। इतने अधिक संदर्भ देने के बावजूद भी पुस्तक की शैली अत्यन्त सरल, सुबोध एवं रोचक है।

इतिहास लेखन का कार्य चूँकि अत्यन्त वृहद् है अतः लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में आवश्यकतानुसार शोध की सभी प्रविधियों का उपयोग किया गया है। जैसा कि लेखक के प्रस्तुत ग्रंथ का शीर्षक 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' से ही स्पष्ट है, कि इस लेखन कार्य में शोध की विश्लेषणात्मक प्रविधि का प्रयोग प्रमुखता के साथ किया गया है। चूँकि सांस्कृतिक विरासत-लोक साहित्य, लोक काव्य, लोक नाट्य, लोक गाथायें, किंवदन्तियाँ, कहावतों, स्मारकों, चित्रकला, अभिलेखों, पत्रों, पाण्डुलिपियों में अन्तर्निहित बुन्देलखण्ड के राजनीतिक इतिहास को सामने लाना इस लेखन कार्य का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है। प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में इतिहास भले ही कला हो, मगर तथ्यों की खोज प्रणाली वैज्ञानिक ही होती है। उपलब्ध स्रोतों का वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करके की प्रमाणिकता सामने आ सकती है। उपलब्ध स्रोत सामग्री के संकलन चयन एवं उपयोग में यथासंभव शोध की वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग किया गया है।

यथार्थता इतिहास की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। इतिहास जगत में यथार्थता से एक इंच भी इधर-उधर होना अक्षम्य अपराध की श्रेणी में आता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में यथार्थता की रक्षा का हरसंभव प्रयास किया गया है। इतिहास लेखन में वस्तुनिष्ठता एवं प्रामाणिकता का भी विशेष ध्यान रखा गया है। किसी भी प्रकार के वाद अथवा पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर लेखक ने प्रस्तुत ग्रंथ में तथ्यों की निष्पक्ष व्याख्या प्रस्तुत करते हुये बुन्देलखण्ड का प्रामाणिक एवं समग्र राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया है।

लेखक ने मात्र 212 पृठों में बुन्देलखण्ड के समग्र इतिहास को बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हुए गागर में सागर भरने का काम किया है। पुस्तक में लयबद्धता है। पुस्तक चित्रपट की भांति एक सूत्र में बंधी हुई आगे बढ़ती है। पुस्तक में वर्णित घटनाओं का वर्णन सजीव जान पड़ता है। पुस्तक शोधार्थियों, छात्र-छात्राओं के साथ-साथ एक आम पाठक के लिए भी अत्यन्त रोचक सिद्ध होगी। पाठक इसे पढ़कर 1531 से 1857 तक का समग्र बुन्देलखण्ड का इतिहास न केवल जान सकेंगे अपितु, यह उनके मन-मस्तिष्क में भी अंकित हो जावेगा। चम्पतराय, छत्रसाल, पारीछत, मधुकरशाह, हिरदेशाह, बखतवली, मर्दन सिंह एवं झाँसी की रानी के शौर्य का इतना सुन्दर, सजीव एवं रोचक वर्णन शायद ही कहीं पढ़ने को मिले।

बुन्देलखण्ड के इतिहास पर अभी तक जो भी कार्य किया गया वह अधिकांशतः साहित्यकारों द्वारा किया गया। बुन्देली संस्कृति के प्रख्यात साहित्यकार नर्मदा प्रसाद गुप्त ने इस तारतम्य में लिखा है–'बुन्देलखण्ड में लोक संस्कृति का इतिहास उपेक्षित रहा है, लोक काव्य आल्हा, किवदंतियाँ, लोक गाथायें अप्रमाणिक समझे गये। लोक के क्रियाकलाप, लोक साहित्य, लोक कलाओं की उपेक्षा की गई। इसी कारण बुन्देलखण्ड का समग्र एवं तथ्यपरक इतिहास सामने नहीं आ पाया।' यह कहा जा सकता है कि बुन्देलखण्ड की समृद्धशाली सांस्कृतिक विरासत के कई पक्ष इधर-उधर बिखरे हुये हैं। कई पत्र, पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं जिन पर कोई कार्य ही नहीं हुआ था। लेखक ने रानी लक्ष्मीबाई एवं शाहगढ़ राजा बखतवली आदी के द्वारा लिखे गये मूल पत्रों से तत्युगीन राजनीतिक इतिहास के कई महत्त्वपूर्ण एवं लुप्तप्राय तथ्यों को उद्घाटित किया है। बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक इतिहास पर तो कई ग्रन्थ लिखे गये हैं मगर बुन्देलखण्ड की राजनीतिक विरासत को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने का शोधपरक गंभीर प्रयास इतिहासकारों द्वारा नहीं किया गया है। इस कमी को पूरा करने का एक गंभीर प्रयास लेखक ने पूर्ण लगन तथा ईमानदारी से सम्पन्न किया है।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
इतिहास विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश

समीक्ष्य पुस्तक–'बुन्देलखण्ड का इतिहास' (1531 से 1857ई. तक)
लेखक–प्रो. बी. के. श्रीवास्तव
प्रकाशक–डी. के. प्रिंटवर्ल्ड, नई दिल्ली

प्रकृति, मनुष्य और विज्ञान का औदात्य

–हिमांशु यादव

'बादलों में उड़ती धूप' नवीन कानगो का पहला काव्य-संग्रह है जो सतलुज प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा) से 2018 में प्रकाशित हुआ है। इसमें उनकी छोटी-बड़ी कुल 108 कविताएँ और 44 गजलें संगृहित हैं। वैसे तो नवीन कानगो सूक्ष्मजीव विज्ञान के प्रोफेसर हैं पर हिन्दी कविता में हस्तक्षेप कर वे आश्चर्यचकित करते हैं। कविता और गज़ल की हिन्दी-उर्दू परम्परा से वे भलीभाँति परिचित जान पड़ते हैं। प्रकृति और विज्ञान का संतुलन ही मनुष्य को उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है। कविता अन्ततः मनुष्यता की ही पक्षधर होती है। कविता के दरवाजे सबके लिए खुले हुए हैं। कविता के विस्तृत मनोलोक में कोई भी आवाजाही कर सकता है। एक सूक्ष्म जीव वैज्ञानिक होने के बावजूद नवीन कानगो अपनी संवेदनशीलता से उत्पन्न बेचैनी के कारण कवितायें रचते हैं। गज़ल भी लिखते हैं। वे सोशल मीडिया पर भी सक्रिय हैं और खूब सक्रिय हैं। इस संग्रह की बहुत सी कवितायें सोशल मीडिया पर भी हैं।

इस संग्रह में नवीन कानगो ने अपने अंदाज में कविता के ज़रिये कई विषयों और मुद्दों पर धीमी-सधी बातचीत की है। वस्तुतः नवीन कानगो छोटे में मोटी बात करने वाले कवि हैं इसलिए उनकी कविताओं में कुछ न कुछ ऐसा जरूर होता है, जो चौंकाता है, संजीदा बनाता है और नये तरीके से सोचने को मजबूर कर देता है। यह कुछ न कुछ जैसी बात उनकी रचनाओं की विषय-वस्तु, पुराने मुद्दे पर नया नजरिया या कविता में शब्दों का नज़ाकत भरा रिश्ता-में से कोई भी हो सकती है, जो उनकी कविताओं को ताकत देती है।

अपनी 'कविता' शीर्षक कविता में वे कविता के जन्म की कथा बड़े संवेदनशील ढंग से कहते हैं–

''शब्द छँटते हैं
विचार विन्यस्त होने लगते हैं
हृदय डूब कर उभरता है
मन शरीर के पास उतर जाता है
अश्रु आँखों की कोरों तक पहुँचते हैं
एक कविता जन्म लेती है।''

यही संवेदनशील दृष्टि उनके समस्त कविता कर्म की पहचान है। छोट-छोटे स्थानीय प्रसंगों और घटनाओं-कथाओं के माध्यम से वे बड़े सवालों के जवाब माँगते दिखाई देते हैं। पाठक उनकी कविताओं में कवि की बेचैनी अनुभव करता है और उद्वेलित होता है लेकिन कवि नवीन कानगो का उद्देश्य यहीं खत्म नहीं हो जाता, वे पाठक के संवेदनात्मक ज्ञान को रचनात्मक दिशा भी देते हैं। अपने अनुभवों से समृद्ध भी करते हैं। अपने समय और समाज, खासतौर से स्थानीयता से जुड़ी उनकी कवितायें भूमण्डलीकरण के दौर में एक कोने में घटित होकर अनदेखी की जा रही मानवीय घटनाओं या यंत्रणाओं की ही नहीं हैं, बल्कि व्यापक मानवीय सरोकारों से जुड़ने वाली चिन्ताओं की कवितायें हैं। प्रकृति और मनुष्य के बीच उभरते अलगाव की मुश्किल होती स्थितियों को कवि ने संकट के रूप में देखा है। वे बेहद सम्भावनाशील कवि हैं। वे आधुनिक जीवन की जटिलता से उपजे यथार्थ का सक्षमतापूर्वक चरम दिग्दर्शन कराते हैं।

नवीन कानगो की कविताओं में प्रकृति के ढेर सारे चित्र हैं। प्रकृति से बात करते हुए, उससे बातें लेते हुए इनकी कविताओं के शब्द कभी रंग, कभी रूप, कभी स्पर्श तो कभी गंध बन गये हैं। वे शुद्ध रूप से प्रकृति की बात करते हुए पेड़, फूल, पत्ते, धरती, नदी, सूरज, बारिश इत्यादि का जिक्र करते हैं।

'निर्विकल्प' कविता में वे लिखते हैं—

''पेड़ का नहीं होता है कोई घर
इसीलिए नहीं होता है कोई बाहर
कहीं नहीं जाना होता उसे
न इधर, न उधर
कोई चिरैया उसका बीज
या बयार उसकी खुशबू
जबरन ले जाये
तो ले जाये''

वस्तुतः प्रकृति के प्रकृत को कवि ने मानवीय और उदात्त जीवन मूल्यों का सबसे जरूरी मूल्य माना है। अपनी लय में उसकी कई पुरानी ध्वनियाँ पकड़ी हैं और सहज नैसर्गिक प्रकृति सम्पदा के बरक्स निचाट, क्षुद्र और अमानुषिक होते जीवन की खबर ली है। मनुष्य की सारी गतियों और ऊँचाइयों के लिए अपने समय की आँधियों के बीच कवि ने मनुष्य के भीतर साझा विश्वास के तार झंकृत करने की कोशिश की है। इस संग्रह की पहली कविता 'चितेरा' में वे लिखते हैं—

''बेमौशम बारिश का मोहताज चितेरा
खुरदुरे बंजर खेत में लोटता है
उसे अपनी देह से जोतता है

फिर बादलों की बाट जोहता है
स्वयं देह से खेत हो जाता है
गेहूँ की एक बाली के लिए
उसे चुगने वाली एक चिड़िया के लिए''

प्रकृति को लेकर कवि की संवेदनशील अभिव्यक्ति प्रकृति में जो भी सुन्दर है उसे बचाने के लिए वैज्ञानिक बोध से जुड़कर मुखर हुई है। इसके पीछे निश्चित रूप से स्नातक व स्नातकोत्तर स्तर की उनकी जीव विज्ञान की पढ़ाई का योगदान है। 'वृक्ष' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं–

''सदैव अकेला
अचल
कभी पल्लवित, कभी पुष्पित होता
असीम में असंख्य हाथों को फैलाये
चिरकाल से खड़ा है वह
सभी झंझावातों का सामना करता
निर्विकल्प, निःस्वार्थ
ज़मींदोज़ रहस्यों को सुरभि में बदल
प्रकाशित करता।''

प्रकृति में कवि को अगाध विश्वास है। एक वैज्ञानिक भावबोध से सम्पृक्त होकर कवि ने पारिस्थितिकी के संतुलन की चिंता करते हुए ''बादलों में उड़ती धूप'' शीर्षक कविता में लिखा है–

''जैसे करुणा को
मिल गये हों शब्द
मिल गई हो अभिव्यक्ति
यहाँ से वहाँ जाने के लिए
सूखी-उदास जमीन पर बरसने के लिए
बाट जोहते किसी मन को भिगोने के लिए।''

कविता कवि के रक्त में बसी हुई है। विज्ञान को काव्य के साँचे में ढालने में कवि को महारत हासिल है। कवि ने अपनी कविताओं से साबित किया है कि इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और पौराणिकगाथाओं की तरह विज्ञान के सिद्धान्त भी साहित्य को समृद्ध करने में कारगर भूमिका निभा सकते हैं और जीवन की संवेदनाओं से जुड़कर रचनादृष्टि के वाहक बन सकते हैं तथा जीवन के अनकहे एवं अछूते सत्य को प्रकाश में ला सकते हैं। एक समर्थ रचना द्वारा पाठक की संवेदनाओं में एक सुगबुगाहट और सक्रियता पैदा की जा सकती है, जीवन में बढ़ती

हुई हर तरह की आक्रामकता के प्रति व्यक्ति को सोचने पर विवश किया जा सकता है। अपनी 'नवाचार' शीर्षक कविता में कवि लिखता है–

''फफूँद की मारक क्षमता से बनी
जीवनदायी औषधियाँ
जल के विस्थापन से तैरे
लाखों टन लोहे के जहाज़
चक्र आविष्कृत कर गतिमान हुआ मानव
वायुयान में बैठ परिष्कृत हुआ मानव''
× × × × × × × × ×
परिष्कृत मानव अब खोजता है
उत्तरों के प्रश्न''

इस संग्रह की सभी कवितायें समय-चेतना और परिवेश के तल्ख़ यथार्थ को प्रखरता से व्यक्त करती है। जीवन की पीड़ा, ताप-तेज, जीने के लिए संघर्ष करता-घिसटता आदमी, जिजीविषा का संघर्ष, देश और दुनिया में फैला पूँजी और बाजार का आतंक-इत्यादि पर कवि की पैनी निगाह है। मनुष्यता को नुकसान पहुँचाने वाली समस्त सामन्ती और पूँजीवादी शक्तियों के प्रतीक बाजार को लक्षित करते हुए कवि अपनी 'चलते-चलते' शीर्षक कविता में लिखता है–

''यक़ीन मानिये
मैं बाज़ार नहीं गया था
वरन् बाज़ार मेरे घर में घुस गया''
× × × × × × ×
''कहते हैं सौदे में हमेशा
बाज़ार कमाता है।''

इस मोबाइल युग में इंसान इतना बनावटी हो गया है कि हँसी की स्वाभाविक प्रक्रिया ही अब इंसान के चेहरे से गायब हो गयी है। 'सेल्फी' शीर्षक कविता में कवि लिखता है–

''खींचे हुए फोटो में
खिंचे हुए मुस्कराते चेहरे
किसी ने बाहर से
खींच रखा है होंठों को
इंसान इतना मजबूर
मुस्कराने के लिए
कभी रहा होगा?''

एक सजग, बचैन और संवेदनशील कवि की दृष्टि दुनिया में बढ़ रही अमानवीयता और नृशंसताओं पर बराबर पड़ती है। वह अपने समय की पड़ताल करता रहता है। नवीन कानगो एक ऐसे ही सजग कवि हैं। ''आयलन कुर्दी की तस्वीर'' शीर्षक कविता में कवि मानवता को शर्मसार करने वाली घटना पर दृष्टि डालता है–

''गहरे पानी में दम घुटने से मरता है कोई बच्चा
आँसू आँख से झरता है कोई बच्चा
वह मासूम था
इंसानियत की तरह''

आज के समय में रचनात्मकता भी बाजार के दबाव में है और मनुष्यता भी। हमारी सम्बन्ध चेतना में भयावह बिखराव दिखाई देता है। भोगवादी अवधारणा हमारे जीवन में अपनी प्रभावी सत्ता कायम करती जा रही है। समय की तहें खोलते, परत-दर-परत उसका निरीक्षण करते हुए कवि नवीन कानगो की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि नितान्त वैचारिक क्षणों में भी कविता की कोमलता उनके हाथों से फिसलती नहीं। संवेदनाओं के विभिन्न स्तर का भेदन करती हुई उनकी कवितायें जीवन का संधान करती हैं। क्रूर परिस्थितियों में जीवित रहने की व्यक्ति की तीव्र बेचैनी और गहरी पीड़ा से उपजे तनाव के अनेकामी संदर्भ उनकी कविताओं में मौजूद हैं। ''जीना शुरु कर देता हूँ'' शीर्षक कविता में वे मनुष्य की जिजीविषा को वाणी देते हुए लिखते हैं –

''बहुत टूटने के बाद
फिर कुछ जोड़ कर
जीना शुरु कर देता हूँ।''

नवीन कानगो अपनी कविताओं के जरिये तेजी से रूप बदल रहे इस संसार में मनुष्य से तकनीक में रूपान्तरित चरित्रों के लिए, फिर से उनमें संवेदनशीलता जिलाये रखने और उन्हें सजग बनाये रखने की कोशिश करते दिखाई देते हैं। प्यार-परस्पर और प्रेम ही ऐसे तत्त्व हैं जो मनुष्यता की रक्षा कर सकते हैं। ''प्रेम पियाला'' कविता में कवि का उद्घोष है–

''मेरा पियाला लबरेज़ है
'मैं' धूल के निरीह कण से लेकर
नभ में दैदीप्यमान सूर्य तक
सब से प्रेम में हूँ।''

इस संग्रह में नवीन कानगो की गजलें भी संग्रहित हैं जिनमें उनका मानवीय रूप उभरकर सामने आया है। आज की हिन्दी ग़ज़ल एक ठोस और जीवंत यथार्थ के रूप में लगातार ढलती गई है और अपनी खास पहचान भी बनाती गई है। ग़ज़ल अब राजदरबार और महफिल की ही चीज नहीं है, वह जन सामान्य खासकर मध्यम वर्ग से सम्पर्क और संवाद करने का

अभिव्यक्ति माध्यम भी है। प्रेमिका से बातचीत के अपने पुराने अर्थ की कैद से मुक्त होकर ग़ज़ल अब नये-नये अर्थों-सरोकारों और संवेदनाओं की तलाश में अपने समय के साथ बहुत आगे आ चुकी है। इसमें अब हर दिन नये आयाम जुड़ रहे हैं, नये दरीचे खुल रहे हैं। ग़ज़ल के तेवर का नया ठाठ और उसकी दृष्टि और चिंतन का नयापन समकालीन काव्य परिदृश्य में उसके आकर्षण एवं लोकप्रियता का आज प्रमुख कारण है। ग़ज़ल अब वहाँ से गुजर रही है, जहाँ से पहले कभी नहीं गुजरी थी। भाषा और शिल्प के स्तर पर भी ग़ज़ल में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। ग़ज़ल के इस दौर में नवीन कानगो की ग़ज़लें इस कसौटी पर बिल्कुल खरी उतरती हैं।

नवीन कानगो की ग़ज़लों में जिन्दगी की स्याह सच्चाई क्रूर यथार्थ के रूप में सामने आयी है। ''मंजिलें भी मयस्सर हों'' शीर्षक गज़ल में वे लिखते हैं–

''हवेलियों में रौनक़ थी, रोशनी भी बहुत
उदास झोपड़ों में, दिये मगर जले ही नहीं।''

कहना न होगा कि ग़ज़लकार की चिन्ता मनुष्यता की चिन्ता है। उसे साधारण मनुष्य के दुःख के प्रति गहरी संवेदना है। ''ये झूठ है'' शीर्षक ग़ज़ल में वह लिखता है–

''एक निवाले के लिए मर गया बच्चा
रौनक-ए-शहर देखकर मैं शर्मसार हुआ''

नवीन कानगो अपनी ग़ज़लों में बाज़ार को एक भयावह संकट के रूप में देखते हैं और उन्हें लगता है कि बाज़ार ने रिश्तों में दरारों को और बढ़ा दिया है तथा इंसान का वजूद ही अब खतरे में है। वे ''वजूद इंसान का'' शीर्षक ग़ज़ल में लिखते हैं–

''वजूद इंसान का बेकार नज़र आता है
सबकी आँखों में बाज़ार नज़र आता है।''

आज का मनुष्य कितना डरा हुआ है। भूमण्डलीकरण, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद की चक्की में वह पिस रह है और छटपटा रहा है। रोजमर्रा के जीवन में वह प्रत्येक क्षण घटनाओं से डरता है। 'ख़ौफ़' शीर्षक गज़ल में नवीन कानगो लिखते हैं–

''न जाने किस सफ़्हे पर क्या छपा हो
अब तो हर नई खबर से डर लगता है।''

देश और दुनिया में अपराध निरंतर बढ़ रहे हैं। एक भय का वातावरण है। लोगों की अभिव्यक्ति जायज़ मुद्दों पर न के बराबर है। राजनीतिक पार्टियाँ बराबर इसी ताक में रहती हैं और समयानुकूल इसका फायदा उठाती हैं। मुद्दों पर ख़ामोशी मनुष्यता को नष्ट किये दे रही है। 'इंसान इन दिनों' शीर्षक ग़ज़ल में इंसान की कई शक्लें उभारते हुए नवीन कानगो लिखते हैं–

''यो तो बातें हज़ार करता है

मुद्दों पर बेजुबान है इंसान इन दिनों''
''शक्ल से दरवेश नज़र आने वाला
भीतर से हैवान है इंसान इन दिनों।''

बेरोजगारी में मनुष्य की कोमलता नष्ट हो जाती है। ''ज़ख्म किसी के' शीर्षक ग़ज़ल में ग़ज़लकार लिखता है—

''गम-ए- रोजगार में उलझी है जवानी
अब दिलों में फूल खिलता ही कहाँ है।''

इंसान की एहसान फ़रामोशी को लक्षित करते हुए ग़ज़लकार नवीन कानगो ने समाज के कटु यथार्थ से परिचित कराया है जो मनुष्यता के क्षरण की तस्वीर है —

''एक लंबी तनहाई की आगोश है
बहस के बाद हर ज़र्रा ख़ामोश है।''
दोस्तों की मौकापरस्ती में कुछ नया नहीं
इंसान हमेशा से .एहसान फ़रामोश है।''

इस संग्रह की कविताओं में शिल्प के स्तर पर कवि ने शब्दों की ताकत को समझा है। उन्होंने अमूमन रोजाना नज़र में पड़ने वाली मामूली चीजों पर कवितायें लिखी हैं लेकिन कवि की कलम की स्याही छूकर ये मामूली चीजें मामूली नहीं रह गई हैं। कवि ने कृषकाय शब्दों में नयी जान डालकर उन्हें ताकतवर बनाया है। शब्दों को बचाने के लिए उन्होंने अपने अन्तःकरण में अपने युग से लड़ाई लड़ी है और इसीलिए उनकी कवितायें इतनी खूबसूरत बन पायी हैं। प्रकृति, मनुष्य और विज्ञान के औदात्य को सृजित करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। कविता और गीत-ग़ज़ल के अंदाज की बानगी कवि के इस संग्रह को उल्लेखनीय बनाती है। कविता में भी कवि अपने गज़ल-शायरी के अंदाज से मुक्त नहीं हो पाया है। हिन्दी के साथ-साथ उर्दू और अँग्रेजी पर भी कवि की पकड़ दिखाई देती है। जो कविता, ग़ज़ल पढ़ने-पढाने, सुनने-सुनाने और उस पर बात करने के शौकीन हैं, वे अगर इस संग्रह से न गुजरें तो कुछ बेहतरीन कविताओं-ग़ज़लों से वे नावाकिफ रह जायेंगे।

असिस्टेण्ट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

समीक्ष्य पुस्तक—बादलों में उड़ती धूप
संपादक—नवीन कानगो
प्रकाशक—सतलुज प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा)

राजभाषा प्रकोष्ठ : कदम दर कदम

–विनोद रजक

विश्वविद्यालय में भारत सरकार की राजभाषा नीतियों का अनुपालन सुनिश्चित कराने हेतु बनाए गए राजभाषा प्रकोष्ठ में हिन्दी अधिकारी, हिन्दी अनुवादक एवं हिन्दी टंकक पदस्थ हैं। वर्ष 2017-18 के दौरान राजभाषा प्रकोष्ठ की प्रमुख गतिविधियाँ निम्नलिखित हैं :-

कार्यशाला का आयोजन एवं प्रशिक्षण सामग्री तैयार करना :

विभिन्न विभागों/अनुभागों में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से राजभाषा प्रकोष्ठ प्रत्येक तिमाही में कम-से-कम एक हिन्दी कार्यशाला का आयोजन अवश्य करता है। इस वित्तीय वर्ष में अभी तक दिनांक 22 मई, 2018 को 'यूनिकोड : परिचय, संस्थापन एवं प्रयोग', दिनांक 10 सितम्बर, 2018 को 'कम्प्यूटर पर हिन्दी टंकण', दिनांक 21 दिसम्बर, 2018 को 'हिन्दी सॉफ़्टवेयर उपकरणः प्रदर्शन एवं प्रशिक्षण' विषयों पर कार्यशालाएँ आयोजित की गईं। इन कार्यशालाओं में विषय प्रवर्तक के रूप में राष्ट्रीय सूचना प्रौद्योगिकी केन्द्र से डॉ. प्रशांत करोले, स्थापना शाखा से संयुक्त कुलसचिव डॉ. सत्यप्रकाश उपाध्याय, प्रभारी परीक्षाफल निष्पादन इकाई से डॉ. के.के राव, जवाहरलाल नेहरू पुस्तकालय से डॉ. अनुराग श्रीवास्तव, सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष आदि उपस्थित रहे। इस वर्ष इन कार्यशालाओं के माध्यम से चरणबद्ध तरीके से विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों/अनुभागों में कार्यरत लगभग 42 अधिकारियों/कर्मचारियों को हिन्दी में कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया।

हिन्दी के प्रगामी प्रयोग की तिमाही रिपोर्ट : राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार के निर्देशों के तारतम्य में विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रगामी प्रयोग से संबंधित तिमाही प्रगति रिपोर्ट (प्रत्येक वित्तीय वर्ष में 04) गृह मंत्रालय को ऑनलाइन प्रेषित की गईं।

विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति : राजभाषा विभाग, गृह मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा समय-समय पर जारी आदशों/निर्देशों का अनुपालन सुनिश्चित कराने के उद्देश्य से गठित विश्वविद्यालयीन राजभाषा कार्यान्वयन समिति की तिमाही बैठकों का आयोजन किया जाता है। इस वित्तीय वर्ष में चार बैठकें दिनांक 02.07.2018, 09.10.2018 एवं 18.01.2019 को

विश्वविद्यालय के प्रशासनिक भवन में स्थित समिति कक्ष में आयोजित की गईं। इन बैठकों में कार्यालयीन कामकाज में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के उद्देश्य से लिए गए निर्णयों पर भी समुचित अनुवर्ती कार्रवाई की गई।

हिन्दी पखवाड़ा 2018 : हिन्दी दिवस का आयोजन राजभाषा प्रकोष्ठ की महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में से एक है। इस वर्ष राजभाषा के वार्षिक अनुष्ठान 'हिन्दी दिवस' को 'हिन्दी पखवाड़े' (31 अगस्त से 14 सितम्बर, 2018) के रूप में विशेष हर्षोल्लास के साथ मनाया गया। पखवाड़े के अंतर्गत छात्रों, कर्मचारियों, शिक्षकों एवं अधिकारियों हेतु विभिन्न प्रतियोगिताओं, स्वरचित कविता पाठ एवं व्याख्यान आयोजित किये गये।

(i) प्रतियोगिताओं का आयोजन : पखवाड़े के अंतर्गत विश्वविद्यालय द्वारा उन्नत भारत अभियान के तहत गोद लिए गए गाँवों में से दो गाँव : शासकीय प्राथमिक शाला सिरोंजा एवं शासकीय प्राथमिक शाला पथरिया हाट की प्राथमिक शालाओं में हिन्दी श्रुतलेखन प्रतियोगिता, कर्मचारियों हेतु हिन्दी टंकण एवं हिन्दी निबंध लेखन प्रतियोगिता, शिक्षकों एवं अधिकारियों हेतु भाषण प्रतियोगिता एवं स्वरचित कविता पाठ आदि प्रतियोगिताओं का आयोजन किया गया। इन प्रतियोगिताओं के विजेताओं को क्रमशः रु. 3000/-, रु. 2000/- एवं रु. 1000/-के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय नकद पुरस्कार एवं छात्रों हेतु विशेष पुरस्कार प्रदान किए। इन प्रतियोगिताओं में परीक्षक का दायित्व निर्वहन श्रीमती प्रीति तिवारी, श्री अरविंद कुमार जैन, आदि सहायक अध्यापक, डॉ. के.के. राव, प्रोग्रामर, प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, प्रो. बी. आई. गुरु, अध्यक्ष अंग्रेजी एवं अन्य यूरोपीय भाषाएँ विभाग ने किया। हिन्दी पखवाड़े के दौरान गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय से पधारे प्रो. संजीव दुबे एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग से पधारे प्रो. चितरंजन मिश्र ने भी व्याख्यान दिया।

(ii) मुख्य समारोह : दिनांक 14 सितम्बर, 2018 को आयोजित हिन्दी दिवस के मुख्य कार्यक्रम की अध्यक्षता विश्वविद्यालय के मान. कुलसचिव कर्नल राकेश मोहन जोशी जी ने की। कार्यक्रम में विभिन्न प्रतियोगिताओं के विजेताओं को नकद पुरस्कार, प्रमाणपत्र एवं स्मृतिचिह्न प्रदान किए गए। कार्यक्रम को विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी जी ने भी सम्बोधित किया। कार्यक्रम में अधिकारियों, शिक्षकों, कर्मचारियों एवं छात्र-छात्राओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

राजभाषा पदक : विश्वविद्यालय की कार्य परिषद के अनुमोदन से इस वर्ष वित्तीय वर्ष 2017-18 में विश्वविद्यालय के कार्यालयीन कामकाज में राजभाषा हिन्दी के उत्कृष्ट प्रयोग करने वाले तीन कर्मचारियों—डॉ. यू.एस. पटेल प्रवर श्रेणी लिपिक- प्रथम, श्री मनोज कावड़े, प्रवर श्रेणी लिपिक एवं श्री खेमचंद राठिया, आशुलिपिक को गौर जयंती (26 नवंबर, 2018) के अवसर पर राजभाषा पदक एवं प्रथम द्वितीय एवं तृतीय पुरस्कार विजेताओं को क्रमशः रु. 1500/-, रु. 1000/- एवं रु. 500/- के नकद पुरस्कार प्रदान किए गए।

विश्व हिन्दी सम्मेलन एवं राजभाषा संगोष्ठियों में सहभागिता :

11वें विश्व हिन्दी सम्मेलन में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष प्रो. आनंद प्रकाश त्रिपाठी एवं हिन्दी अधिकारी ने विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया। मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय राजभाषा संगोष्ठी में हिन्दी अधिकारी ने प्रतिभागिता की।

अनुवाद कार्य : विश्वविद्यालय की वार्षिक लेखा रिर्पोट (2017-18) एवं प्रवेश विवरणिका (2018-19) का अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के अध्यादेशों का अनुवाद किया गया। विश्वविद्यालय द्वारा जारी की जाने वाली विभिन्न प्रेस विज्ञप्तियों, निविदा सूचनाओं आदि का यथावश्यक अनुवाद किया गया। नैड में अपलोड किए जाने वाले डाटा की वेटिंग की गई। कार्यालय के विभिन्न अनुभागों द्वारा वांछित विभिन्न प्रपत्रों एवं कार्यालयीन साहित्य का अनुवाद किया गया। कार्यालय में प्रचलित विभिन्न प्रपत्रों एवं अन्य आवश्यक दस्तावेजों का द्विभाषीकरण किया गया। राजभाषा प्रकोष्ठ राजभाषा अधिनियम 1963 की धारा 3 (3) के अनुपालन के लिए भी सतत् प्रयासरत है।

अन्य कार्य :

1. नगर राजभाषा कार्यान्वयन समिति, सागर की बैठकों में विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में हिस्सा लिया।
2. विश्वविद्यालय के केन्द्रीय कार्यालय के दोनों प्रवेश द्वारों पर आज का विचार तथा आज का शब्द उपलब्ध कराया।

हिन्दी टंकक
राजभाषा प्रकोष्ठ
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)